

मुखमरी यहाँ की परम्परा नहीं है!



आदिवासियों की
पारंपरिक खाद्य सुरक्षा पर
एक नज़र



शीर्षक	भुखमरी यहाँ की परंपरा नहीं है! (आदिवासियों की पारंपरिक खाद्य सुरक्षा पर एक नज़र)
संपादन	अरुण कुमार त्रिपाठी, चिन्मय मिश्र और राकेश दीवान
लेखन	सचिन कुमार जैन
सह-लेखन	लक्ष्मी नारायण अवधिया, रूबी सरकार, भूमिका कलम, श्वेता शुक्ला और साकेत दुबे (सभी विकास संवाद फैलो)
समन्वय	राकेश कुमार मालवीय
सहयोगी	सौमित्र राय, अरविन्द मिश्रा, रोली शिवहरे, आरती पाराशर, कमलेश नामदेव, मनोज गुप्ता, सोनू मालवीय, संतोष वैष्णव, गुंजन मेंहदीरत्ता
प्रकाशक	विकास संवाद
पता	ई-7/226, प्रथम तल, धनवंतरी काम्प्लेक्स के सामने अरेरा कालोनी, शाहपुरा, भोपाल, मध्यप्रदेश. vikassamvad@gmail.com www.mediaforrights.org / www.vssmp.org (0755-4252789)
मुद्रक	बी.के. ट्रेडर्स
डिजाइन	अमित सक्सेना
सहयोग राशि	50 रुपए
वर्ष	2016
सर्वाधिकार	उन सबके लिए सुरक्षित, जो बदलाव के लिए इसका उपयोग करना चाहते हैं।

भुखमरी यहाँ की परम्परा नहीं है!

आदिवासियों की पारंपरिक खाद्य सुरक्षा पर एक नज़र



अनुक्रमणिका

प्रस्तावना	अ
जंगल से सुनिश्चित होती रही खाद्य सुरक्षा	1
ऐसा होता तो वजूद क्यों नहीं मिटा!	4
पोषण सुरक्षा के लिए जरूरी है विविधता	6
बात बुंदेलखंड की.....	9
कुछ अनुभव	
• धनियाझोर : कल के लिए भी तो सोचना है	11
• मूल व्यवस्थाओं को तोड़ दिया विकास की अवधारणा ने	17
• अपनी खाद्य प्रणाली से टूट जाना	19
• आइये पातालकोट को भी समझें	21
• सैकड़ों सालों से मशरूम खाते हैं पातालकोटवासी	23
• डिंडौरी को भी देखें	25
• बेवर खेती का अर्थ	28
• हमें सोचना होगा	31
विकास संवाद मीडिया फैलो के संपादित आलेख	
❖ बेवर वाले बैगा (लक्ष्मी नारायण अवधिया)	33
❖ कोरकू करते हैं, चिड़िया-चुग खेती (रूबी सरकार)	36
❖ चुनौतियों के साथ बसे भील (भूमिका कलम)	39
❖ कोल समुदाय की खाद्य सुरक्षा (श्वेता शुक्ला)	43
❖ पाताल में रचे-बसे भारिया (साकेत दुबे)	45

प्रस्तावना

आदिवासी समाज पिछड़ा नहीं, बल्कि आदिकाल से प्रकृति के साथ रचा-बसा समाज है। वह जानता है कि प्रकृति कभी भूख पैदा नहीं करती, वह तो भुखमरी की संहारक है; बशर्ते उसके नियमों को समझा जाए। उसका प्रकृति पर कब्जा करने में विश्वास नहीं है, इसीलिये वह एक हिस्से की तरह उससे जीवंत रिश्ता बनाकर जीता है। वह जानता है कि जो कुछ मिलना है, वह जंगल, पानी, हवा, पहाड़, जीव-जंतुओं और जमीन से ही मिलना है। यदि ये खत्म हो गए तो इंसान खत्म हो जाएगा, यदि ये दूषित हो गए, तो समाज बीमार हो जाएगा।

पिछले कुछ वर्षों से जहाँ एक तरफ कुपोषण का सवाल उठा, तो दूसरी तरफ खाद्य उत्पादन के रिकार्ड टूटने की आवाजें भी आती रहीं। देश में आदिवासियों की सबसे ज्यादा आबादी मध्यप्रदेश में है। अध्ययन से पता चलता है कि सबसे ज्यादा कुपोषण भी आदिवासियों में ही है। सवाल है कि क्या आदिवासी हमेशा से कुपोषण के शिकार रहे हैं? यदि हाँ, तो फिर दुरूह परिस्थितियों में बसा यह समाज अब तक कैसे बच पाया? और यदि ऐसा नहीं था तो इस समाज की व्यवस्थाएं और व्यवहार क्या थे, जिनके चलते इनका अस्तित्व अब तक नष्ट नहीं हो पाया? पिछले कुछ वर्षों से हमारी कोशिश रही है - आदिवासी व दलित समुदाय के लोगों से उनकी पारंपरिक खाद्य सुरक्षा की व्यवस्था जान पायें। इस लिहाज से हमने मध्यप्रदेश के अनेक आदिवासी बहुल जिलों की यात्राएं कीं। यात्रा में सवाल-जवाब के दौरान जो बातें निकलीं, उन्हें हमने इस पुस्तक की शुरुआत में संकलित किया है। किसी भरी-पूरी समाज व्यवस्था के बारे में दो-चार दिन की सरसरी यात्रा में जान लेना असंभव है इसलिए इन्हें अंतिम निष्कर्ष नहीं माना जा सकता। हमने केवल एक शुरुआती कोशिश की है, यात्राओं के दौरान बटोरी गई ज्यादा-से-ज्यादा जानकारियों को साधारण तरीके से प्रस्तुत करने की।

इस किताब के दूसरे हिस्से में 'विकास संवाद मीडिया फैलोशिप' के तहत राज्य के पत्रकारों द्वारा अलग-अलग आदिवासी समाजों पर किए गए अध्ययनों के संपादित आलेख हैं। कुछ उदाहरण दक्षिणी मध्यप्रदेश के जिलों, खासतौर पर होशंगाबाद, बैतूल, छिंदवाड़ा और हरदा के समाज से हैं जहां एक बड़ा हिस्सा आदिवासी है। उनमें से एक हैं गोंड आदिवासी। यह समुदाय अपनी खाद्य सुरक्षा के लिए पानी, जंगल और जमीन पर ही निर्भर रहा है। हालांकि उनके द्वारा उपयोग में लायी जाने वाली जमीन

वर्तमान मानकों पर बहुत उत्पादक नहीं मानी जाती, परन्तु उन्होंने अपने तरीकों से उसे उपयोगी और उत्पादक बनाया है। मसलन - बुआई के पहले वे 10 दाने पानी से भरे बर्तन में डालते हैं। यदि इनमें से 7 डूब गए तो माना जाता है कि 70 फीसदी बीज अंकुरित होंगे और फिर इसी आधार पर बोनी की जाती है। फिर एक और प्रयोग, जमीन के एक टुकड़े पर, लगभग डेढ़ इंच भीतर बीज बोया जाता है। पांच दिन के बाद उस जमीन की हल्की सिंचाई की जाती है। यदि इससे 75 फीसदी बीज अंकुरित हो जाते हैं तो उन बीजों को बुआई के लिए चुन लिया जाता है।

गोंड आदिवासी एक मौसम में एक ही फसल नहीं लेते। वे मक्का और धान के साथ कोदो और कुटकी भी पैदा करते हैं। इसके साथ ही भाजियां और सब्जियां भी उगाई जाती हैं। उनकी भोजन प्रणाली ऐसी है, जो थाली को पूरा भर देती है। वे जंगल से महुआ, शतावर, हरी, बहेड़ा, बेल, चिरोंजी, अर्जुन जैसी वनोपज लेते हैं। इन सभी की गुणवत्ता को मापने के मानक तय हैं। बेल गहरा पीला, चिरोंजी अचार पूरी तरह से सूखी, शतावर सफेद और सूखी हो तो अच्छी गुणवत्ता की मानी जाती है।

इसी समाज में मछली पकड़ने के लिए लंबे बांस से बनी बंसी या बांस से बनी ऐसी डलिया का उपयोग किया जाता है जिसका आकार लगभग एक फुट होता है। इस डलिया के एक मुंह को सूती कपड़े से बंद कर दिया जाता है और दूसरी तरफ का मुंह खुला रखा जाता है। जिस दिशा से बहाव आ रहा होता है, उस दिशा की तरफ खुला हुआ मुंह होता है। जैसे ही मछली डलिया में आती है, वे डलिया का मुंह ऊपर करके उसे उठा लेते हैं।

वे केवल अपने उपयोग के लिए मछली पकड़ते हैं और यह भी ध्यान रखते हैं कि मछलियों का जीवन चक्र बाधित न हो जाए। वे जलकुम्भी (रुके हुए पानी में पायी जाने वाली वनस्पति) की जड़ों को सुखा कर एक पाउडर बनाते हैं। यह बुरादा पानी की सतह पर फैला दिया जाता है। माना जाता है कि जलकुम्भी पानी में मौजूद ऑक्सीजन को सोखती है। यह बुरादा पानी की सतह पर फैलकर गहराई में मौजूद ऑक्सीजन कम कर देता है। इससे मछलियों को पानी की सतह पर आना पड़ता है। उसी समय जरूरत के मुताबिक सही आकार की मछलियां पकड़ ली जाती हैं। एक बार की जरूरत के मुताबिक जब यह काम पूरा हो जाता है, तो वे उस सतह को साफ़ करते हैं या उस क्षेत्र को बहते हुए पानी से जोड़ देते हैं, ताकि बाकी जल-जीवों के लिए संकट पैदा न हो।



जंगल से सुनिश्चित होती रही खाद्य सुरक्षा

गोंड आदिवासी जंगल से 55 तरह की चीजें लेते हैं। महुआ से रोटी बनती है, और इससे मादक पेय तथा खाने के लिए तेल भी मिलता है। भिलवां से जानवरों के लिए तेल मिलता है। तेंदू से बीड़ी बनती है और उसका फल खाया जाता है। निर्गुण्डी से शरीर का दर्द खत्म होता है। तिखुर से शरीर मजबूत बनता है। जंगली अदरक संक्रामक जुकाम का उपचार करता है। ये 55 वन उत्पाद 80

तरह की बीमारियों का इलाज करने में उपयोग में लाए जाते हैं। अर्थात् आदिवासी समुदाय वस्तुतः प्राकृतिक संसाधनों से ही अपनी स्वास्थ्य, खाद्य और पोषण सुरक्षा सुनिश्चित करते रहे हैं। मध्यप्रदेश में 43 आदिवासी समुदाय हैं। इनमें से हर आदिवासी समूह ने अपने आप में पूर्ण व्यवस्था की रचना की है, इसमें चार तत्व महत्वपूर्ण हैं -

- पहला - हमें यह पता होना चाहिए कि जीवन में हमारी जरूरतें क्या हैं - भोजन, स्वास्थ्य प्रबंधन औषधि और आवास।
- दूसरा - हमारी जरूरतें कितनी हैं - अक्सर आदिवासियों के बारे में कहा जाता है कि वे आज के लिए कमाते हैं और

विमर्श में केवल सरकारी योजनाएं हैं

जब भी आदिवासियों की खाद्य सुरक्षा की बात होती है या मीडिया में इसकी रिपोर्टिंग होती है तो वह अमूमन सरकारी योजनाओं तक सिमट कर रह जाती है। आंगनवाड़ी की योजनाओं का न चलना, मिड डे मील का न मिलना व पीडीएस का राशन न मिलने जैसी कुछ स्थितियां हैं जिन पर हम ध्यान देते हैं। लेकिन उन स्थितियों पर नजर ही नहीं डाली जाती जिनकी वजह से यह स्थितियां आ खड़ी हुई हैं। आखिर हजारों सालों से जंगलों में रहकर सुख से अपना जीवनयापन करने वाला समाज आज भूख और कुपोषण के कारण खबरों में क्यों है ? यह तो वैसा ही है कि पहले बीमारी को होने दिया जाए और फिर उसके इलाज के लिए योजनाओं का मलहम लगाते रहें। इसलिए इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समझना बेहद जरूरी है कि जंगल में रहने वाले समाज के जैसे हालात आज हैं क्या वह सदियों से ऐसे ही रहे हैं या यह उनकी खाद्य व्यवस्थाओं में कथित सभ्य समाज की संध लगाने का असर है।

अगले दिन की नहीं सोचते! इसका कारण यह है कि उन्हें यह विश्वास है कि जल-जंगल-जमीन पर आधारित प्राकृतिक व्यवस्था उनके भविष्य की जरूरत भी पूरा कर देगी, तो संग्रहण क्यों करना! वे अनाज रखने के लिए मिट्टी-गेहूं के भूसे व गोबर से टंकी बनाते हैं, जिसे कोठी कहा जाता है। इसमें वे अपना अनाज सुरक्षित रखते हैं। कभी कोई भी आदिवासी यह कहता नहीं मिला कि इस कोठी में रखा अनाज खराब हो गया।

- तीसरा - जिन संसाधनों से हमारी जरूरतें पूरी होती हैं, उन संसाधनों को पालना-पोसना भी हमारा काम है। यह विचार करना ही अपराध है कि हम इन संसाधनों से इतना तत्व खींच लें, कि उनका जीवन ही खत्म हो जाए।
- और चौथा तत्व यह कि जो संसाधन जीवन देते हैं, उन्हें ही अपना आध्यात्म और आराध्य मानो। जंगल ही आदिवासियों का मंदिर होता है और पेड़ उनके देवता। ऐसे में संसाधन उनके लिए उपभोग की वस्तु नहीं, बल्कि पूजा माने जाने वाली इकाईयां हैं।

अब हम यदि मौजूदा बहस, नीतियों और नज़रिए पर थोड़ी गहरी नज़र डालें तो पता चलता

खाद्य सुरक्षा एक बहुपक्षीय व्यवस्था है

ओडीशा के दो जिलों में रायगढ़ और सुन्दरगढ़ में डॉ. डेबल देब, कविता कुरुंगी, डॉ. रुक्मणि राव और सेलोम यसुदास द्वारा समुदाय की खाद्य सुरक्षा पर वर्ष 2013 में एक अध्ययन किया गया। इस क्षेत्र के समुदायों के जुलाई 2013 के अंतिम सप्ताह से लेकर दिसम्बर 2013 के मध्य हुए अध्ययन से पता चला कि उन्हें वनों से 121 ऐसे खाद्य पदार्थ (खाने की सामग्री) मिलते हैं, जिसकी बुआई नहीं की जाती है। प्राकृतिक संसाधनों से मिलने वाली इस सामग्री के एक बार के संग्रहण से वे प्रति घर 4.56 किलो भोजन सामग्री हासिल करते हैं। इस दौरान उन्हें भाति-भाति के मशरूम और कंद मिलते हैं। उनके भोजन में विविधता, अलग-अलग तरह के फल, कंद, सब्जी-भाजी और मशरूम उन्हें प्रकृति ही दे देती है। यह जानना महत्वपूर्ण है कि कुल भोजन की जरूरत में से 12 से 25 प्रतिशत की पूर्ति तो ऐसी भोजन सामग्री से हो रही है, जिसकी बुआई ही नहीं की जाती है। बिना बोये पैदा होने वाली इन 121 सामग्रियों में से 98 का उपयोग समुदाय द्वारा अपने नियमित भोजन में किया जाता है।

है कि आदिवासियों की पारंपरिक पद्धतियां, जिनके वैज्ञानिक होने पर कोई सवाल नहीं हो सकता, वही उनके पिछड़े होने का मानक मान ली गयीं। जिन संसाधनों और मूल्यों को उन्होंने अपनी जीवन शैली का आधार माना, उन्हें भी उनके पिछड़े होने का सूचक मान लिया गया।

इस तरह स्वतंत्र भारत में आदिवासी समुदाय को गरीब और भूख के साथ जीने वाले समुदाय के रूप में स्थापित कर दिया गया। पाषाणकाल से असीमित संसाधनों के बीच सीमित जरूरतों वाली जीवन शैली अपनाने वाला यह समाज आज सर्वाधिक कुपोषण का शिकार है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (तीन) के मुताबिक मध्यप्रदेश (जहां आदिवासियों की संख्या सबसे ज्यादा है) में आदिवासी समुदायों में 71.4 प्रतिशत बच्चे कम वजन के हैं। उससे ज्यादा चिंताजनक तथ्य यह है कि इनके 56.4 प्रतिशत बच्चों की उम्र के मान से लम्बाई कम है, यानी पिछली पीढ़ी से शुरू हुई खाद्य असुरक्षा के कारण उनकी वृद्धि बाधित हुई है। इनमें से भी 33.9 प्रतिशत बच्चों की वृद्धि अतिगंभीर रूप से बाधित हुई है। 82.5 प्रतिशत बच्चों में खून की कमी पायी गयी। ये सभी वे सूचक हैं, जिनके सन्दर्भ में आदिवासी समुदाय की स्थिति अन्य तबकों की तुलना में ज्यादा गंभीर प्रतीत हो रही है।



ऐसा होता तो वजूद क्यों नहीं मिटा!

आदिवासी समाजों में खाद्य-पोषण सुरक्षा बनाए रखने वाली कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ थीं, जिनके जरिए वे कुपोषण और बीमारियों के संकट से गहरे तक प्रभावित नहीं रहे। पुरातन काल से इस स्तर की खाद्य असुरक्षा, बीमारियों और कुपोषण की स्थिति में तो संभवतः इनका वजूद ही मिट जाना चाहिए था, पर ऐसा हुआ नहीं। दूसरा सवाल उठता है कि क्या केवल सरकारी पोषण कार्यक्रमों से आदिवासी समुदाय में कुपोषण को खत्म किया जा सकता है, या इसके लिए खाद्य सुरक्षा संसाधनों और आदिवासी समाज के रिश्तों को पुनः-स्थापित करने की जरूरत है। वस्तुतः कुपोषण से निपटने के लिए हमें कई पहलुओं पर काम करने की जरूरत है। प्रस्तुतियों और चर्चाओं से यह स्पष्ट होता है कि महिलाओं की खाद्य असुरक्षा

अगरिया के अनुभव

अगरिया आदिवासी पहाड़ों को पिघलाकर लोहा निकालते थे, आग से तपाकर जीवन-यापन करने के कारण इस जनजाति का नाम अगरिया पड़ा। यही लोहा एक समय में कृषि अर्थव्यवस्था का आधार बनता था क्योंकि अगरिया इसी लोहे से हल का निर्माण करता था। फसल काटने वाला हंसिया भी इन्हीं की भट्टी में पककर अपना रूप लेता था। ऐसा ही कुछ अब भी होता है। अगरिया अब पहाड़ से लोहा नहीं निकालता है, बल्कि अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ औजार बनाती हैं। महाकौशल अंचल में रहने वाले अगरिया आदिवासी एक परस्पर-निर्भर सामाजिक व्यवस्था का सार्थक उदाहरण है। इनके द्वारा बनाए गए औजारों का उपयोग स्थानीय स्तर पर रहने वाले बैगा आदिवासी और अन्य खेती करने वाले समुदाय करते रहे हैं। इससे उनकी खेती होती रही और इनकी जीविका चलती रही। अब व्यवस्था में बदलाव आ रहा है। जो धीरे-धीरे बुनियाद ही बदल देने वाला है। एक उल्लेखनीय बात यह है कि एक गांव में बहुत से अगरिया परिवार एक साथ नहीं रहते हैं। मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के 11 जिलों में अगरिया फैले हुए हैं। भगतसिंह तातर अपने गांव के 70 परिवारों की जरूरतों को 8 से 15 दिन उसी गांव में रहकर पूरा करते हैं। एक परिवार का साल भर काम करने के

बढ़ी है और इसका असर व्यापक समाज पर हुआ है। महिलाओं की श्रम में भूमिका तुलनात्मक रूप से बहुत ज्यादा है, पर पोषण की सुरक्षा के सन्दर्भ में उनकी जरूरतों को नजरअंदाज किया जाता है। लैंगिक भेदभाव अब आदिवासी समुदायों में भी पहुंच चुका है। आज जब आदिवासी समुदाय में कुपोषण को दूर करने की कोशिशें हो रही हैं,

तब यह जरूरी है कि उनकी सामाजिक खाद्य-पोषण सुरक्षा व्यवस्था का गहन अध्ययन हो और उनके व्यवहारों को पूरा महत्व दिया जाए।

एवज में भगत सिंह को प्रति नागर (हल) 25 किलो खाद्य सामग्री मिलती है। अगरिया बच्चा जैसे ही संभलकर चलना शुरू कर देता है वैसे ही धुकनी पंखा चलाना शुरू कर देता है। वह कहता है कि दूसरा काम मिलेगा तो भी वह इस काम को नहीं छोड़ेगा क्योंकि साल में 9 महीने उनको इस पेशे में अवसर मिलते ही रहते हैं, अपने पारम्परिक पेशे को छोड़कर दूसरा काम करने वाले परिवारों को उसने भूखे सोते देखा है। बहुत छोटे स्तर पर चल रहा यह पारम्परिक उद्योग भूमण्डलीकरण के औजारों के दौर में संभवतः बहुत देर तक टिक नहीं पाएगा।



पोषण सुरक्षा के लिए जरूरी है विविधता

किसी भी आदिवासी समुदाय में खाद्यसुरक्षा की एक ऐसी प्रणाली जरूर मौजूद रही, जो उन्हें जिंदा रखे रही। इस प्रणाली में विविध प्रकार के अनाज और सब्जियां हैं।

गौरतलब है कि पोषण की सुरक्षा के लिए भरपेट अनाज ही पर्याप्त नहीं है। खाद्यसुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए विविधता के पीछे केवल आहार ही नहीं, बल्कि जमीन का विविधतापूर्ण उपयोग भी जिम्मेदार है। जैसे बैगा आदिवासी, जमीन का पांच तरह से उपयोग करते हैं। खड़ी ढाल वाली जमीन पर बैगा बेवर खेती करते हैं, जबकि कम ढाल वाली जमीन पर हल चलाकर खेती की जाती है। इसमें कोदो-

हमारी सामाजिक व्यवस्था में भोजन का भी लैंगिक पक्ष है। परिवार में महिला बाद में, जितना बचता है उतना और न बचे तो न्यूनतम में संतोष के साथ भोजन पाती है। किन्तु झारखंड के हो आदिवासी समुदाय में महिलाएं भोजन की व्यवस्था तो करती ही हैं, साथ में व्यवहार यह है कि परिवार के हर सदस्य की जरूरत के मुताबिक भोजन का बंटवारा होता है। यदि सभी सदस्य साथ में खाना नहीं खा रहे हों, तो महिला बचे हुए सदस्यों के लिए भोजन पहले से बचा कर रख लेती हैं...मकसद साफ़ है-भेदभाव न हो।

कुटकी जैसे अनाज बोए जाते हैं। समतल जमीन पर धान उगाया जाता है। वरिष्ठ पत्रकार अपर्णा पल्लवी बताती हैं कि जैसी बारिश होगी, उसी के हिसाब से कोई न कोई अनाज जरूर पैदा होगा। तेज बारिश में बेवर खेती कुटकी ज्यादा पैदा करता है। कम बारिश होती है तो कुटकी के बजाय ज्वार, रागी ज्यादा पैदा होंगे। धान के हिसाब से अगर बारिश कम हुई तो कम ढाल वाली जमीन पर बेवर खेती अच्छी होगी। इसके अलावा घर के पास की जमीन पर कांदा और मक्का उगाए जाते हैं। कांदा यानी कंद के साथ मक्का आदिवासियों के भोजन की जरूरत पूरी कर देता है। जमीन के इन पांच उपयोग के अलावा आदिवासियों की खाद्यसुरक्षा का छठा विकल्प जंगल की जमीन है। जंगल में जैसी बारिश होगी, वैसी ही उपज होगी। अगर बारिश ज्यादा हो तो भाजियां ज्यादा होंगी। बांधवगढ़ के आसपास रहने वाले आदिवासियों ने कम बारिश

वाला एक साल सेमल की पंखुड़ियों की रोटी खाकर गुजारा किया। सेमल के बीज की सब्जी खाकर खुद को जिंदा रखा।

महाराष्ट्र के यवतमाल के आदिवासियों ने वासन की भाजी खाकर सूखे के सात साल गुजारे। शहरी खाने में बहुत ज्यादा एकरूपता है, वहीं आदिवासी के खाने में विविधता रही है। प्राकृतिक संसाधनों से जब जैसा मिल गया, उन्हें वे खाते हैं। वे कोदो जमा करते हैं। कोदो के बारे में कहा जाता है कि यह 100 साल तक सुरक्षित रहता है। जबकि कुछ चीजें केवल 15 दिन ही सुरक्षित रहती हैं। इन्हें फौरन खाया जाता है। इस तरह शहरी समाज के मुकाबले आदिवासी समाज की खाद्यसुरक्षा कई परतों में बनी है। इसमें एक सुरक्षा चक्र भी है, क्योंकि उनके आहार में अगर एक चीज नहीं मिलेगी तो दूसरी जरूर मिलेगी।

आदिवासी समाज भोजन को प्राप्त करने की अपनी रणनीतियों को भी समय-समय पर बदलता रहता है। महाराष्ट्र के महादेव कोली आदिवासी बारिश के दिनों में केकड़ा पकड़ते हैं और गर्मी के दिनों में केकड़ा पकड़ने की उनकी रणनीति अलग होती है।

आदिवासियों के बहुत से खाद्य पदार्थों में औषधीय गुण हैं। बदन दुखने पर केकड़े का पेय, बुखार आने पर सांवा घास खाना वगैरह। आयुर्वेद में ऐसी कई औषधियां हैं, जिन्हें आदिवासी खाते हैं। यह उनकी भोजन श्रृंखला का हिस्सा है। चूंकि आदिवासियों की निर्भरता खेती पर कम और जंगलों पर ज्यादा है, इसलिए यह पर्यावरण के अनुकूल भी है। उनके लिए जंगल ही खाद्य का प्रमुख स्रोत है, इसलिए वे जंगलों को संरक्षित रखते हैं।

आदिवासियों की खाद्य प्रणाली को खतरा

आदिवासियों की खाद्य प्रणाली से अगर छेड़छाड़ न की जाए तो यह बहुत सुरक्षित है। जबकि आधुनिक खेती करने वाले किसान की सोयाबीन की फसल अगर खराब हो जाए तो उसके पास अक्सर आत्मसहत्या करने के सिवा और कोई विकल्प नहीं रह जाता। आदिवासियों को भोजन देने वाली जमीन बहुत व्यापक है। उसका आधार बहुत बड़ा है, लेकिन शहरी भोजन प्रणाली का आधार बहुत छोटा है। जब सरकार आदिवासियों की खाद्य प्रणाली में हस्तक्षेप करती है तो उनका भोजन भी दाल-चावल और रोटी बन जाता है। इसमें दाल बहुत कम होती है। सब जगहों पर गेहूं-चावल या व्यावसायिक फसलों को एक जैसा महत्व दिए जाने की नीति ने आदिवासियों की खाद्यसुरक्षा को कमजोर कर दिया है। अब आदिवासी अपना पारंपरिक अनाज बाजार

में बेचते हैं और राशन से मिलने वाला अनाज खाते हैं। ऐसा इसलिए, क्योंकि राशन के अनाज की गुणवत्ता खराब होने के बाद भी वह बहुत सस्ता है। सरकार ने आदिवासियों के अनाज को खाने के लिए कोई प्रावधान नहीं किए। सरकार को आदिवासियों द्वारा उगाए अनाज पर सब्सिडी देनी चाहिए, क्योंकि यह उनकी खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित करने के साथ ही देश के स्वास्थ्य तंत्र पर दबाव को कम कर रहा है। अतएव आदिवासियों के परंपरागत खाद्य सुरक्षा तंत्र को प्रोत्साहित करना चाहिए। बैगाओं के बीच बिना खेती के उगाए गए अनाज भी बहुत हैं, लेकिन वे अब उन्हें खाने में शर्म महसूस करते हैं। उन्हें पिछड़ेपन का अहसास होने लगा है। ऐसे अनाज की बहुत सी किस्मों को उन्होंने खाना बंद कर दिया है।

यह धारणा गलत है कि आदिवासी गरीबी के कारण आम की गुठली खाते हैं। असल में वे स्वास्थ्य की जरूरतों को पूरा करने के लिए आम की गुठली खाते हैं। पिछले डेढ़ सौ सालों में आदिवासियों के उत्पादन के तरीकों को पर्यावरण विरोधी साबित करने की कोशिशें हुई हैं। वे झूम खेती करते रहे हैं, जिसमें जंगल के एक हिस्से को साफ़ करके वे 3-4 साल उस पर खेती करते हैं और उसकी उत्पादन क्षमता बनी रहे इसलिए उस जमीन को छोड़ कर दूसरे टुकड़े पर खेती करते हैं। मध्यप्रदेश में बैगा आदिवासी समुदाय ऐसी खेती करता रहा और उनका मानना है कि प्रकृति के संतुलन, जमीन की उर्वरता को बनाये रखने के लिए यह सबसे बेहतर पद्धति है। झूम खेती को प्रतिबंधित कर दिया गया क्योंकि सरकार आदिवासियों को एक खास टुकड़े पर सीमित कर देना चाहती थी ताकि उसके द्वारा बाकी के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जा सके। झूम खेती के कारण जंगल में लैंटाना घास बहुत नहीं बढ़ती थी। आज की स्थिति यह है कि सघन जंगलों में इसका तेजी से विस्तार हुआ। लैंटाना पेड़ों पर चढ़ कर जंगल पर छा जाता है। झूम खेती के लिए आदिवासी पूरे जंगल का नहीं, बल्कि एक छोटे से टुकड़े का उपयोग करते थे, वह भी उस टुकड़े का जहां बहुत सघन जंगल न होकर समतल और खुली हुई जमीन होती थी।

उत्पादन की व्यवस्था बदलने के कारण आदिवासियों पर भी गेहूं-धान का उत्पादन करने का दबाव बढ़ा। मध्यप्रदेश सरकार अब मोटे अनाज को बढ़ावा देने का काम कर रही है, लेकिन इस प्रोत्साहन का मकसद पोषण सुरक्षा सुरक्षित करने के बजाए, बाज़ार के लिए नये उत्पाद तैयार करना ज्यादा है।



बात बुंदेलखंड की.....

बुंदेलखंड के घाव गहरे होते जा रहे हैं। इस इलाके के ताजा संकट का हल बेहद हल्के और सतही अंदाज़ में खोजने की कोशिश की जा रही है। एक सुनहरे अतीत से सूखे इलाके में बदलने वाले बुंदेलखंड की मौजूदा समस्याओं को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है।

जलवायु परिवर्तन के तहत मौसमी घटनाएं चरम स्तर का व्यवहार करती हैं और बुंदेलखण्ड में बार-बार व लगातार सूखा पड़ने लगा है। जलवायु परिवर्तन के कारण चारों तरफ पहाड़ी श्रृंखलायें, ताल-तलैयाएँ और बारहमासी नालों के साथ कालीसिंध, बेतवा, धसान, केन और नर्मदा नदियों वाले क्षेत्र का वर्तमान बहुत दुखदायी हो चुका है।

यहाँ की जमीन खाद्यान्न, फलों, तम्बाकू और पपीते की खेती के लिए बहुत उपयोगी मानी गई है। यहाँ सारई, सागौन, महुआ, चार, हर, बहेडा, आंवला, घटहर, आम, बेर, धुबैन, महलोन, पाकर, बबूल, करोंदा, समर के पेड़ खूब पाए जाते रहे हैं। यह इलाका प्रकृति के कितने करीब रहा है, इसका अंदाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि बुंदेलखंड के ज्यादातर गांवों के नाम वृक्षों (जमुनिया, इम्लाई), जलाशयों (कुआँ, सेमरताल), पशुओं (बाघडबरी, हाथीसरा, मगरगुहा, झींगुरी, हिरनपुरी), पक्षियों, घास-पात या स्थान विशेष के पास होने वाली किसी खास ध्वनि के आधार पर रखे गए, पर अब इस अंचल को विकास की नीतियों ने सूखा इलाका बना दिया है।

यहां प्राकृतिक संसाधनों के बाजारू दोहन की नीतियों ने खेती को भी सुखा दिया। 2001 से 2010 के बीच के दस वर्षों में बुंदेलखंड में खाद्यान्न उत्पादन में 55 फीसद और उत्पादकता में 21 प्रतिशत की कमी आई है, फिर भी सरकार किसान उन्मूलक कृषि को संरक्षण देने के पक्ष में नहीं दिखती।

पर्यावरणविद अनुपम मिश्र लिखते हैं कि बुंदेलखंड में जातीय पंचायतें अपने किसी सदस्य की अक्षम्य गलती पर जब दंड देती थीं तो उसे दंड में प्रायः तालाब बनाने को कहती थीं। बुंदेलखंड में औसत बारिश 95 सेंटीमीटर है, जिससे यहां पानी की कमी बनी रहती है। यही कारण है कि यहां कम बारिश में पनपने वाली फसलों को प्रोत्साहन दिया जाता है पर सरकार और कुछ बड़े किसानों ने सोयाबीन और कपास

जैसे विकल्पों को चुना। पिछले बीस सालों में निजी आर्थिक हितों की मंशा को पूरा करने के लिए नकद फसलों को बढ़ावा दिया गया। जमीन की नमी कम हो गयी तो गहरे नलकूप खोद कर जमीन का पानी खींच कर निकाल लिया और भू-जल स्रोतों को सुखाना शुरू कर दिया। सेंट्रल ग्राउंड वाटर बोर्ड बताता है कि बुंदेलखंड क्षेत्र के जिलों के कुओं में पानी का स्तर नीचे जा रहा है और भू-जल हर साल 2 से 4 मीटर के हिसाब से गिर रहा है; वहीं दूसरी ओर हर साल बारिश में गिरने वाले 70 हजार मिलियन क्यूबिक मीटर पानी में से 15 हजार मिलियन क्यूबिक मीटर पानी ही जमीन में उतर पाता है। अब पूरे देश में सूखा पड़ रहा है। भारत की सरकार सूखा घोषित करे या ना करे, पर संकट तो विकराल हो ही चुका है।



धनियाझोर : कल के लिए भी तो सोचना है

बाल मृत्युदर पर खूब बहस चल रही है। गांव और आदिवासी संकट में बताये जाते हैं। इसी दौरान हम मौजूदा मानकों के हिसाब से अविकसित बालाघाट जिले के वनग्राम धनियाझोर पहुंचे। यहाँ 11 जुलाई 2009 को जगोतीन और सुकलाल के बेटे महेंद्र की निमोनिया के संक्रमण से दुखद मृत्यु हुई थी। इसके बाद छः साल गुजर रहे हैं लेकिन गांव में पांच साल से कम उम्र के बच्चे की मृत्यु नहीं हुई है। यह गांव रोशनी (बिजली) के प्रकोप से बचा हुआ है। 1941 में जन्मे प्रताप सिंह मरकाम ने समझाया 'बिना कुछ साथ लिए जंगल में जाकर आप कई दिन रह लो, भूख से नहीं मरोगे। शहद मिल जायेगा, जड़ें मिल जायेंगी, फल और भाजियां भी मिलती हैं। शहर में यदि आपके पास पैसा न हो, तो इंसान जिन्दा ही नहीं रह सकता'।

गांव का आधुनिक मतलब है एक पिछड़ी और आनंद से विहीन एक इकाई। इस इकाई को तोड़ा जाना आधुनिक विकास के लिए जरूरी है। आदिवासी की नई परिभाषा गरीब, पिछड़े और अनुत्पादक लोग जो बहुत सारी जमीन पर कब्जा किये हुए हैं और विकास बाधित करने वाले हैं।

हमने निश्चय किया गांव को देखते हैं। और मन में कोई धारणा बनाये बगैर आदिवासी की बात सुनते हैं। उसे कह और बता कर हमने बहुत कुछ बिगाड़ लिया है। जितना बताया गया, उतना समझा, देखा और महसूस नहीं किया। बस इसी से कुछ बिगड़ता गया। लेकिन अब उसे सुनने की बारी है। हमने सोचा कि बस सुनेंगे और जानेंगे। इस तरह हम बालाघाट जिले में एक गांव में पहुँच गए। यह गांव राजधानी भोपाल से 515 किलोमीटर की दूरी पर है।

सपने के गांव के तरह नहीं बल्कि बस एक छोटी सी जानकारी 'यह गांव अपनी जरूरत का अनाज पैदा करता है तथा खेती में रसायनों और मशीनों का उपयोग नहीं करता है' हमें वहां खींच ले गयी। धनियाझोर गांव को जून 1974 में कान्हा राष्ट्रीय पार्क की स्थापना के दौरान बिना किसी पुनर्वास के मुक्की क्षेत्र से विस्थापित किया

गया था। तब सौधर, घुरीला, बिशनपुरा और ओरथी गाँव के 417 परिवार इस बर्बरता से हटाये गए थे कि वे अपने घर से रसोई के बर्तन, पहनने के कपड़े और अनाज भी उठा न पाए। वन विभाग का तत्कालीन आदेश तो कहता था कि कान्हा अभयारण्य से प्रभावित होने वाले परिवारों का पुनर्वास करते हुए उन्हें उस जगह तक भेजा जाएगा, जहाँ उन्हें घर और जमीन मिल रही है। उन्हें नकद सहायता भी दी जाएगी, पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। तब बेघर किये गए कुछ परिवारों ने बालाघाट के बैहर विकासखंड के जंगलों में आकर जमीन के एक टुकड़े पर बसना शुरू किया। 41 साल बाद उस बसाहट ने धनियाझोर गाँव का रूप ले लिया है। आज के 46 गोंड आदिवासी परिवारों के इस गाँव के लोग खेती के उत्पादन और सामाजिक जीवन में पारंपरिक उसूलों के साथ जिंदगी बिताते हैं। आज के दौर में जब इस बात का बहुत जोर है कि कृषि का उत्पादन बढ़ाने, फसलों को बीमारी से बचाने के लिए रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों का इस्तेमाल अनिवार्य है, तब धनियाझोर के इन 46 परिवारों में से कोई भी व्यक्ति अपनी जमीन और फसल के लिए रसायनों का इस्तेमाल नहीं करता है। गाँव के मुखिया 74 वर्षीय प्रताप सिंह मरकाम कहते हैं कि ऐसा नहीं है कि हमें रासायनिक खाद या कीटनाशकों के बारे में पता नहीं है। गाँव में सरकारी लोग भी आते हैं और कंपनी के लोग भी हमें बताते रहे हैं कि इन्हें डालोगे तो उत्पादन बढ़ जाएगा। कीड़े नहीं लगेंगे और खूब आय होगी। तब हमने आपस में बात की कि जितना धरती दे सकती है, उतना ही तो देगी। यदि हम इन रसायनों का उपयोग करेंगे तो इसका मतलब है कि हम मिट्टी की ताकत और क्षमता से ज्यादा उलीचेंगे। यह तो गलत है। आज मिट्टी की ताकत खींच लेंगे, तो कल क्या बचेगा? कल का भी तो सोचना है?

वह कहते हैं कि हाट बाज़ार में जाओ या फिर जिले में, हर जगह पर यह कहा जाता है कि यदि उत्पादन बढ़ाना है तो दवाइयाँ और कंपनी की खाद डालनी पड़ेगी। जब हम यह पूछते हैं कि यदि हम इस खाद को डालेंगे तो कब तक डालना पड़ेगा! इसका जवाब आता है कि इसे तो हर बार और बार-बार डालना पड़ेगा, लेकिन मिट्टी और धरती बीमारी तो है नहीं कि एक बार दवाई डाली और बीमारी ठीक हो गयी। यह तो जमीन को निचोड़ने का तरीका है। हमने अपने समाज के बुजुर्गों से बात की, जो अच्छी खेती करने वाले लोग हैं, उनसे भी बात की तो यही पता चला कि एक बार खाद डालने के बाद न केवल इसे बार-बार डालना पड़ेगा, बल्कि हर बार एक किलो के बजाय डेढ़ किलो और फिर डेढ़ किलो के बजाय दो किलो रसायन डालना पड़ेगा।

तब समझ में आया कि यह तो जाल जैसा है।

उनका मानना है कि जमीन की ताकत पत्तियों, गोबर और पानी से है। बाहरी कोई भी खाद मिट्टी को खराब करेगी। उसकी स्वाभाविक गुणवत्ता को बचा कर रखना सबसे जरूरी है। यदि वह खत्म हो गयी तो वह कई सौ सालों में ठीक होगी। अभी एक एकड़ में 10 क्विंटल धान होती है। इसे बढ़ाना क्यों? जितनी होती है, उससे कुछ अपनी जरूरत पूरी हो जाती है और कुछ बाजार में बेच आते हैं। गांव में यदि किसी को दुख होता है या कमी होती है, तो जरूरत के हिसाब से कुछ कुड़ो अनाज दे दिया जाता है। जब किसी को ज्यादा अनाज की जरूरत होती है, जैसे शादी के लिए, तो जितना अनाज लोग सहयोग में देते हैं, उससे थोड़ा ज्यादा वह वापस कर देता है।

धनो सिंह मरकाम के मुताबिक नई किस्म के बीज के साथ रसायनों का उपयोग जरूरी होता जा रहा है। हम अब तक केवल वही बीज उपयोग में लाते हैं, जिनसे नया बीज बन सके और जो बिना रसायन के पैदा हो जाए। अब तो अपने बीज बचाना भी कठिन होता जा रहा है क्योंकि इस तरह की खेती के लिए सरकारी मदद नहीं मिलती है।

अब भी यह गांव 6 तरह के धान, कोदो, कुटकी, सरसों, मक्का सरीखे अनाज, अरहर, उरद, मसूर, चना, जैसी दालें उगाते हैं। उनका उत्पादन उनकी जरूरत को पूरा कर देता है। बिना रसायनों के वे भिन्डी, लौकी जैसी 10 सब्जियां भी पैदा करते हैं। आठ तरह की भाजी जंगल से ही मिल जाती है। लगभग एक किलोमीटर के दायरे में फैले धनियाझोर गांव में और इसके आस-पास आम के 90 पेड़, पपीते के 70 पेड़, कटहल और इमली के 20 पेड़ लगे हुए हैं। सरसों का तेल उनके उपयोग में अहम है।

इस आदिवासी समाज में जिस तरह लोगों के रहने के लिए घर बने हैं, उसी तरह के घर पशुधन के लिए भी हैं। कोई भेदभाव नहीं। वे अच्छी तरह से जानते हैं कि बिना पशुधन के इस तरह की खेती असंभव है। यही कारण है कि इस गांव के सभी घरों में 5 से लेकर 20 जानवर हैं। जो इन परिवारों को केवल दूध नहीं देते, बल्कि दूध से मक्खन भी होता है। वे मानते हैं कि जानवर के दूध पर सबसे पहला हक उसके बच्चे का होता है। जब तक वह पूरा दूध न पी ले, तब तक उस जानवर का दूध नहीं निकाला जाता है। हर समाज स्वच्छता के अपने मानक बनाता है। हर घर साफ और मिट्टी-गोबर से लिपा हुआ है। अगर स्वच्छता का मतलब केवल शौचालय भवन बनाना नहीं हो तो, इस गांव के घरों और लोगों से ज्यादा कुछ स्वच्छ नहीं है। महुए से

बना मादक पेय आदिवासी समुदाय की पहचान और चरित्र माना जाता रहा है। वे कहते हैं कि महुआ केवल पेय बनाने के काम नहीं आता है। यह भोजन भी रहा है और इसकी गुल्ली से तेल भी बनता है।

समाज एक संरक्षक की भूमिका में तो रहता ही है। 'लमसना' परंपरा के तहत जिया लाल की बेटी फगनी बाई का बैजलपुर के नैन सिंह के साथ विवाह हुआ। धनियाझोर के गोंड समुदाय के जिस आदिवासी परिवार में केवल लड़की होती है, वहाँ दूसरे परिवार या दूसरे गांव के परिवार के लड़के को सदस्य के रूप में स्थान दिया जाता है। वह लड़का कुछ महीने तक उसी परिवार में रहता है। यदि परिवार के सदस्य और लड़की उसे 'लायक' पाते हैं, तो सहमति होने पर उसका विवाह लड़की से किया जाता है। यदि लड़के को लायक नहीं पाया जाता है, तो वह अपने घर वापस चला जाता है। विवाह के बाद लड़का लड़की के घर पर ही रहता है। इस 'लमसना' परंपरा में कहीं कोई टकराव या वैमनस्यता नहीं होती है। फगनी बाई के लिए विवाह का मतलब जबरिया का बंधन नहीं था। उनको लगा कि उसके जीवन साथी का व्यवहार और शैली मानकों के मुताबिक नहीं है, तो वह सम्मान के साथ अलग भी हो सकती। इसमें कोई दोषारोपण नहीं होता। स्त्री के अस्तित्व को इस तरह सम्मान और समानता का दर्जा देने वाली खुली और जिम्मेदार व्यवस्था क्या आधुनिक समाजों में है? बहरहाल सरकारी पंचायती राज व्यवस्था धनियाझोर गांव को कभी नहीं सुहाई। वे मानते हैं कि इससे हमारे रिश्ते टूटे हैं और अपने ही लोगों पर अविश्वास बढ़ा है।

जंगल उनके जीवन का केंद्र रहा है, परन्तु अब यह उनसे छीना जा रहा है। इन्हें पास के जंगल में प्रवेश की अनुमति नहीं है। प्रताप सिंह कहते हैं कि 'यदि कोई जंगली जानवर गांव के किसी व्यक्ति को मार देता है, तो कोई पूछने नहीं आता। साही और जंगली सूअर पूरी फसल उजाड़ देते हैं, तब भी कोई पूछने नहीं आता; परन्तु यदि एक हिरन अपनी मौत भी मर जाए, तो चार गाड़ियां आकर खड़ी हो जाती हैं। उन्हें लगता है कि हमने जानवर को मारा है'। जंगल की तरफ देखते हुए वे कहते हैं कि 'इससे हमें अचार (चिरौंजी), मशरूम, कांदे, भाजी, आंवला, इमली, कई बीमारियों की दवाइयां मिलती थीं। अब हम खाली हाथ हैं। बारिश में कडुआ कांदा (कड़वा कांदा), गिर्ची कांदा और कनिहा कांदे मिलते हैं। अब मुश्किल होती है, क्योंकि जंगल में जा नहीं सकते। बहुत कुछ बचा होने के बाद भी कुछ चुनौतियां सामने बनी रहती हैं। अब केवल अनाज पैदा कर लेने से जिंदगी नहीं चलती है। अब तो नकद चाहिए क्योंकि इलाज गांव में संभव नहीं है। बाहर जाना पड़ता है और फीस देनी पड़ती है, दवाइयां

खरीदनी पड़ती हैं। पिछले पांच-छह सालों में जब नकद की जरूरत बढ़ी, तो गांव से बाहर जाना ही पड़ा। अब कुछ लोग पैसा कमाने शहर जाते हैं, और वापस भी आ जाते हैं। किसी ने गांव अब तक तो छोड़ा नहीं है। कब तक नहीं छोड़ेंगे, यह कह नहीं सकते'।

यहाँ की आंगनवाड़ी कार्यकर्ता प्रभा धुर्वे कहती हैं कि 'अब गांव के लोग भी उत्पादन को बाजार में बेचना चाहते हैं। खूब आम-पपीते होते हैं, खुद नहीं खाते, बस बाज़ार में बेच देते हैं। गांव की जड़ें बहुत मजबूत हैं, इसीलिए इस गांव में वर्ष 2004-05 के बाद पांच साल से कम उम्र के एक भी बच्चे की मृत्यु नहीं हुई है। गांव में आंगनवाड़ी में दर्ज 33 बच्चों में से दो बच्चियों का वजन कम था। इनमें से राजकुमारी को वर्ष 2012 में पोषण पुनर्वास केंद्र भेजा गया था। वहाँ उसका उपचार हुआ, जबकि रेखा को गांव में ही अंडा, आलू और घर का खाना सही तरीके से खिला कर कुपोषण से मुक्त करवा लिया। बहरहाल जन्म लेते ही दो बच्चों की मृत्यु जरूर हुई है। वे कहती हैं कि अब महिलाओं को मूसली खाने को नहीं मिलती है, यह महिलाओं को स्वस्थ बनाती थी'। वह कहती हैं कि 'धनियाझोर में बच्चों का टीकाकरण होता है। लोग कभी विरोध नहीं करते। बीमारी होने पर अब पहला उपचार अस्पताल या डॉक्टर से करवाते हैं। यह व्यवहार तो ठीक ही बदला है, परन्तु गांव में और जंगल से मिलने वाले खाने को बचाना भी जरूरी है'। पिछले पन्द्रह सालों में हिरमा बाई की ही प्रसव मृत्यु हुई है; लेकिन अब स्थिति बदल रही है। जंगल न जा पाने, आजीविका के अवसरों की कमी और बाज़ार के लिए नकद धन की बढ़ती जरूरत महिलाओं समेत सबको तनाव और भय दे रही है। वे अपनी जरूरत को सीमित रखकर जीना चाहते हैं, किन्तु वक्त उन्हें ऐसा करने नहीं दे रहा है।

इस जंगल के 118 वन कम्पार्टमेंट हैं। धनियाझोर के लोगों ने इसमें हिस्सेदारी मांगी है क्योंकि वे मानते हैं कि हम जंगल का केवल उपयोग नहीं करते हैं, बल्कि हमेशा से इसे बचाते भी आये हैं। हम सरकार से कहते भी हैं कि जब जंगल में आग लगती है तो उसे कौन बुझाता है - हम बुझाते हैं, हमारे गांव का हर बच्चा आग बुझाने जाता है। लेकिन वन अधिकार कानून तो केवल मशान, गोठान, नाले, सड़क के ही हक देता है। पिछले 20-30 सालों में थोड़ी-बहुत भुखमरी आने का केवल यही कारण है।

मौसम पर उनकी नज़र बनी हुई है। जिस तरह से मौसम का चक्र और व्यवहार बदला है, वह संकट का संकेत है। प्रताप सिंह मरकाम बताते हैं कि पहले जब बारिश शुरू

होती थी, तब शुरू के दिनों में खूब पानी गिर जाता था। वह बारिश अच्छे मौसम की बारिश होती थी। फिर थोड़े दिन रुक कर बारिश होती थी। अब शुरुआत या तो बहुत तेज बारिश से होती है या बहुत कम बारिश से। दो दिन में ही इतना पानी गिर जाता है कि जमीन बहुत गीली तो हो जाती है, पर धार तेज होने के कारण पानी बह जाता है। इस तरह की बारिश कांदे और पुत्ती (मशरूम) के लिए अच्छी नहीं होती है। हमारी खेती भी ढलान की जमीनों पर है, जिससे थोड़ा पानी ज्यादा दिनों के लिए चाहिए होता है।

भोपाल और दिल्ली जा कर आ चुके प्रताप सिंह दो वाक्यों में अपने गांव की तुलना इन शहरों से करते हैं 'इन शहरों में हमने केवल दो गोड (पैर) वाले जानवर देखे, हमारे यहाँ तो असंख्य दूसरे प्राणी हैं। शहर कभी साफ हवा और साफ पानी पैदा नहीं कर सकता, हमारा गांव करता है। मैंने कभी जूते नहीं पहने, शहर जाकर पहने क्योंकि वो लोग मुझ पर हँसते थे, पर हम उन पर नहीं हँसते। गांव हम सबको अनाज दे सकता है, सब्जी दे सकता है, जंगल हवा देता है, पानी देता है, हरियाली देता है, जानवरों को घर देता है। शहर जो कुछ देता है, क्या उसके बिना जीवन संभव नहीं है? और जो गांव और जंगल देता है, क्या उसके बिना जीवन संभव है?'



मूल व्यवस्थाओं को तोड़ दिया विकास की अवधारणा ने

जिस तरह के विकास की अवधारणा का पालन किया जा रहा है उसने आदिवासियों की आजीविका की मूल व्यवस्था को तोड़ कर रख दिया है। यही कारण है कि आज यही समुदाय सबसे ज्यादा भूख और सामाजिक असुरक्षा का शिकार हुआ। अब परिस्थितियां सामाजिक असंतोष की तरफ इशारा कर रही हैं।

मध्यप्रदेश में सिंचित खेती का रकबा कुल कृषि क्षेत्र का लगभग 37 प्रतिशत है पर आज भी आदिवासी इलाकों में सिंचित रकबा 10 प्रतिशत से कम है; उनके यहां की जमीन असमतल, पहाड़ी और ऊँची-नीची है, लेकिन इसमें रागी, कोदो, कुटकी, सांवा, दलहन आदि पौष्टिक अनाजों, जिन्हें अब पौष्टिक अनाज या मोटा अनाज कहा जाता है, के उत्पादन की स्वाभाविक संभावनाएं होती हैं।

विडम्बना देखिए कि नीति में इन्हें मोटा अनाज कहा जाता है। जो इसे मोटा अनाज कहते हैं, शायद उन्होंने इसे देखा भी नहीं होगा, क्योंकि यह वास्तव में तो बारीक अनाज होता है। गांव और आदिवासी जिस अनाज का खूब उत्पादन और उपयोग करते थे, उसे सरकार और बाज़ार ने पिछड़ा हुआ साबित कर दिया, अब ब्रिटानिया नाम की कंपनी रागी या नाचनी के बिस्किट बनाती है, जो डायबिटीज के रोगियों के लिए प्रभावी उपचार का काम करता है, और मैगी ने रागी मैगी नूडल्स बना दिए। ये अनाज आम लोगों से दूर होते गए और इन अनाजों का उत्पादन बहुत कम होता गया है, फिर भी प्रदेश को पौष्टिक अनाज का 90 फ़ीसदी हिस्सा इन्हीं आदिवासी इलाकों से मिलता है; अब बड़ी कंपनियां इन्हें लूटने के लिए तैयार हैं।

उधर हमारी आजीविका की योजना में बाज़ार के दबाव के निपटने की रणनीति का कोई स्थान नहीं दिखता। हम बिना जुड़ाव के दो संकटों पर अलग-अलग बात करते हैं;— लेकिन उन्हें जोड़कर नहीं देखते जैसे कि खाद्य-पोषण असुरक्षा और आजीविका की असुरक्षा; आजीविका के नाम पर जमीन की सिंचाई की खूब बात होती है पर यह क्यों नहीं देखा जाता कि कम पानी वाले स्थानों पर पौष्टिक अनाज की एक परंपरा और व्यवहार की अर्थव्यवस्था रही है। हर स्तर पर गेहूं और चावल की ही बात क्यों? सर्वविदित है कि चावल में 6.8 ग्राम प्रोटीन और 0.7 मिलीग्राम आयरन होता है परन्तु

बाजरा में 10.6 ग्राम प्रोटीन और 16.9 मिलीग्राम आयरन होता है। गेहूं में 11 मिलीग्राम कैल्शियम है परन्तु रागी या नाचनी में 344 मिलीग्राम कैल्शियम होता है। सावा खबरो में यह कह कर छाती है कि आदिवासी लोग घास खा रहे हैं; उस सावा में गेहूं से ज्यादा प्रोटीन और आयरन होता है; सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ये अनाज हमारे जलवायु परिवर्तन नाम के संकट से खूब जम के लोहा लेते हैं। हम स्थानीय पौष्टिक अनाजों के उत्पादन और उपयोग को फिर से प्रोत्साहित तो करें पर यह सुनिश्चित करें कि यह उत्पादन आदिवासियों की स्थिति में बदलाव लाने का काम करेगा।



अपनी खाद्य प्रणाली से टूट जाना

बैगा, सहरिया, कोरकू, भारिया और कोल समुदायों पर पिछले तीन सालों से चल रहे एक अध्ययन में चौंकाने वाले तथ्य सामने आ रहे हैं। इन समुदायों के 68 प्रतिशत आदिवासी युवा अधिकांश पारंपरिक अनाजों, कंदों और भाजियों के बारे में अब लगभग कोई जानकारी नहीं रखते हैं। उनके बीज नहीं मिल रहे हैं; और दूसरी तरफ ये ही वे समुदाय हैं जो कुपोषण या खाद्य असुरक्षा के जाल में जा फंसे हैं। आदिवासियों की आजीविका को उनकी खुद की जरूरतों व उनकी जीवन शैली के साथ जोड़ कर देखने की जरूरत है। हमने खूब सोयाबीन उगाया, पर इसी दौर में आदिवासियों में प्रोटीन की कमी 29 प्रतिशत तक जा पहुंची। हमारी नीति कहती है किसी भी कीमत आर्थिक विकास करो पर बैगा आज भी जमीन पर निजी स्वामित्व नहीं बल्कि सामुदायिक हक्क और जिम्मेदारी की बात करता है; वहीं हमारे वन अधिकार क़ानून द्वारा आदिवासियों को जंगल की जमीन पर निजी अधिकारों की तरफ प्रेरित कर उन्हें सामुदायिक हकों से दूर कर दिया गया। डेढ़, दो या तीन एकड़ की जमीन पर यदि उन्हें हक्क मिल भी जाए तो क्या वे जिन्दा रह पाएंगे? हां, संभव है यदि उन्हें प्राकृतिक संसाधनों पर सामुदायिक हक्क मिले तो!

महाकौशल के इलाकों में 30 साल पहले जहाँ 56 तरह के अनाज मिलते थे, वहां आज लोग केवल 24 के बारे में जानते हैं, 28 तरह के कंदमूल में से केवल 13 के बारे में ही जानकारी है। 45 तरह के फल-फूल में से 21 की और 54 तरह की सब्जी-भाजी में से 27 की जानकारी ही उपलब्ध है। जिन्हें आज सरकार पिछड़ी हुई जाति कहती है वे 262 तरह की सामग्री का उपयोग अपने खाने में करती थी। इस सवाल का जवाब जरूरी है कि यह भोजन उनसे कैसे छीन लिया गया?

राज्य का यह आदेश कि जंगल सरकार की संपत्ति है, बहुत घातक साबित हुआ है। अब इनका समुदाय कहता है सरकार खुद ही बचा ले अपना जंगल; और सरकार बचा नहीं पा रही है। डिंडौरी जिले का ढाबा गांव इसका एक उदाहरण है। जब स्थानीय लोगों ने देखा कि कूप कटाई के कारण जो परिस्थितियां पैदा हो रही हैं, उनसे आदिवासियों के अस्तित्व पर संकट आ जाएगा तो उन्होंने लगभग 900 एकड़ में हर तरह की कटाई को रोकने का निर्णय कर लिया। वे जंगल बचाना चाहते थे परन्तु स्थानीय वन विभाग ही उनके खिलाफ हो गया। लम्बा संघर्ष चला और 2 साल बाद

जाकर समन्वय स्थापित हुआ। जंगल इसीलिए बचाना चाहते थे क्योंकि इसके कटने से उनके 7 तरह के कांदे ख़त्म हो गए थे, जो उन्हें पोषणयुक्त भोजन देते थे। सैकड़ों सालों में पहली बार उन्होंने देखा कि उनके इलाके का तालाब सूख गया था; वे मानते हैं कि जंगल की कटाई में वे खुद सरकार और ठेकेदारों के साथ थे; पर अब वे अपने जानवर भी लेकर जंगल में नहीं जाते हैं। इस गांव के लोगों को जंगल पर हक़ देने में जो प्रक्रिया चली उसमें 27 महीने लगे। वह भी तब मिला जब लोग संघर्ष की राह पर चले; सवाल यह है कि क्या हम अपनी शासन व्यवस्था को आदिवासी समुदाय की जरूरत और प्रकृति के मुताबिक़ ढालने को तैयार हैं या जो निर्णय दिल्ली या भोपाल में लिख दिया जाएगा, वही आखिरी है?

बैतूल जिले के गुरुवा गांव के किसान भैयालाल का कहना है कि 'सरकार की योजना की कोई बात मत करो। अधिकारी आया और गेहूं और धान के बीज देकर हमें समझाया ये उगाओ, अच्छे भाव मिलेंगे। अब आप बताओ कि जब खेत में पानी ही नहीं है तो ये पेट भर-भर के पानी पीने वाली फसलें लगा कर हम जिन्दा रहेंगे क्या'?

डिंडोरी के लमतु बैगा कहते हैं कि 'वो तो ये जानते ही नहीं हैं कि हमारी जाति कैसी किसानी करती है, अधिकारी आए और धान का बीज बांट गए। कोदो-कुटकी के बीज तो उनके पास होय नी, हमारी फसल के बारे में न वो पूछे, ना वो कुछ जाने। बिना कोदो कुटकी खाए और मक्के का पेज पिए बिना हमार जात का पेट ही न भरे'। अब पिछड़ा, अज्ञानी और नादान कौन है?



आइये पातालकोट को भी समझें

छिंदवाड़ा जिले के तामिया विकासखंड के 79 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में बसे पातालकोट की अपनी एक खास अर्थव्यवस्था है। सिधौली गांव के प्रताप भारती (भारिया) बताते हैं कि स्थानीय जंगलों में 250 से ज्यादा किस्म की औषधियाँ और औषधीय पौधे पाए जाते हैं। ये तो वे पौधे हैं जिन्हें हम जान पाये हैं। इस जंगल में जो कुछ है एक संपदा है। हमारे समाज के जानकार इन औषधीय वनस्पतियों से 42 तरह की बीमारियों का इलाज करने में सक्षम हैं। स्वास्थ्य की यह पारम्परिक व्यवस्था बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि पूरी दुनिया में आधुनिक स्वास्थ्य सेवाओं पर समाज को सबसे ज्यादा खर्च करना पड़ रहा है। शहरों को देखने के बाद वह कहते हैं कि कई बार तो यह लगता है कि हमारे शहरों के लोग बेतहाशा कमाते इसलिए हैं कि वे इलाज करा सकें परन्तु पातालकोट के आदिवासियों के समाज में यह ज्ञान मौजूद है। इलाज की जिम्मेदारी निभाने वालों को यहां भूमिका कहा जाता है।

वे जंगल को पूजते हैं, और कहते हैं कि जब प्रकृति और जंगल हमारे पास है तो चारदीवारी में सम्पत्ति इकट्ठा करने का कोई मतलब नहीं है। जहाँ तक पारिवारिक अर्थव्यवस्था का सवाल है यहां की आर्थिक और प्राकृतिक व्यवस्था का चक्र बेहद रोचक है। ये आदिवासी पूरी तरह से जंगल पर निर्भर होकर जी सकते हैं। जनवरी-फरवरी-मार्च में उन्हें हरी व आंवला मिलता है, अप्रैल तक महुआ का संग्रहण होता है, माहुल के पत्ते (पत्तल-दोने बनाने के काम आने वाले) इकट्ठे होते हैं, जून में महुए का बीज मिलता है, फिर अक्टूबर तक शहद और दिसम्बर तक इमली इकट्ठा होती है। महुआ पातालकोट के समाज और अर्थव्यवस्था में अहम भूमिका निभाता है। सामान्यतः महुआ की जब भी बात होती है तो गैर-आदिवासी समाज के सामने एक ही तस्वीर उभरकर आती है कि जंगल में रहने वाला आदिवासी समाज महुए की शराब बनाने और पीने वाला समाज है। उनका काम है सिर्फ पीना और जीना। आधुनिक अर्थव्यवस्था के केन्द्रीयकृत सिद्धान्तों और मुद्रा के प्रभुत्व ने प्राकृतिक संसाधन आधारित अर्थव्यवस्था की सामाजिक मान्यताओं को तहस-नहस किया है। पातालकोट में पता चलता है कि प्रकृति आधारित अर्थव्यवस्था किसी समाज के लिये कितनी महत्वपूर्ण हो सकती है। प्रताप भारती बताते हैं कि महुआ केवल शराब बनाने का साधन नहीं है, यह एक पोषक तत्व है और हमारे समाज की खाद्य सुरक्षा का स्रोत

तो है ही, उनकी आय में भी इसकी अहम् भूमिका है।

महुआ आमतौर पर मार्च के महीने में अल-सुबह अंधेरे में इकट्ठा किया जाता है क्योंकि सूर्योदय के बाद जानवर इसे खा जाते हैं। ऐसे में जरूरी होता है कि लोग रातभर गिरे हुये महुए को सुबह चार बजे के आस-पास इकट्ठा करना शुरू करें और 4-5 घंटे में अपना काम पूरा कर लें। इसे छांव में सुखाया जाता है और फिर इसकी किशमिश बनती है। आदिवासी इसे कई तरीकों से उपयोग में लाते हैं। पहले बिचौलिये 4-5 रुपए किलो के हिसाब से आदिवासियों से महुआ खरीद लेते थे, पर अब थोड़ा संगठित होने के बाद और संस्थागत प्रयास होने से उन्हें तीन से चार गुना ज्यादा कीमत मिल रही है। अध्ययन से पता चलता है कि पातालकोट में महुआ के लगभग 2225 पेड़ हैं जिनसे मौसम में प्रतिदिन लगभग 500 क्विंटल महुआ निकलता है जिसकी कीमत लगभग 7 लाख रुपए के आसपास होती है।



सैकड़ों सालों से मशरूम खाते हैं पातालकोटवासी

यह जानकर चौंकिए मत कि जिस मशरूम को हम अपने शहरों के बड़े होटलों या बाजार में पिछले कुछ सालों से महंगे पकवान के रूप में देख रहे हैं, ऐसी तमाम किस्मों के साथ मशरूम सैकड़ों सालों से पातालकोट में रहने वाले भारिया आदिवासियों की भोजन की थाली में सजते रहे हैं। इसी तरह जड़, मादल, रातेड़, सीझोड गांव ऐसे हैं जहां शहद की उपलब्धता भी बड़ी मात्रा में है। भारिया आदिवासी बरसों से शहद इकट्ठा करते रहे हैं। उनका तरीका ऐसा है जिसमें वह मधुमक्खियों को बिना नुकसान पहुंचाए शहद निकाल लेते हैं। इससे खेती, पर्यावरण और जंगल का संरक्षण भी होता है।

सतपुड़ा के इन बहुमूल्य जंगलों में चिरौंजी (अचार) के वृक्षों की भी अच्छी-खासी संख्या है परन्तु पातालकोट की अर्थव्यवस्था में चिरौंजी केवल बाजार में बिकने वाला मेवा नहीं है बल्कि प्रकृति के प्रति सम्मान का प्रतीक भी है। यहां सामाजिक रूप से यह तय किया गया है कि हर चिरौंजी जमा करने वाले परिवार का 15 से 40 चिरौंजी के पेड़ों पर अधिकार है। वही परिवार उन पेड़ों की चिरौंजी इकट्ठा कर सकता है ताकि समानता रहे और विवाद न हो। इतना ही नहीं उन सारे पेड़ों के संरक्षण-देखभाल की जिम्मेदारी भी उन्हीं परिवारों की होती है। घटलिंगा के क्षेत्र में आप खूब खट्टी इमली देख सकते हैं जो अक्टूबर से दिसम्बर के महीनों में इकट्ठा की जाती है। जंगलों से ही इन परिवारों को कई तरह के फल और कंदमूल भी मिलते हैं। एक आकलन के मुताबिक पातालकोट में इस प्राकृतिक अर्थव्यवस्था से एक परिवार हर साल लगभग 8 से 12 हजार रुपए कमा लेता है; साथ ही अपने परिवार की इससे दो-गुनी जरूरतें भी पूरी कर लेता है।

पातालकोट के भारिया और गोंड आदिवासियों की वर्तमान भोजन व्यवस्था में गेहूं, मक्का, कनकी, अरहर, कुटकी अनाज के रूप में और बल्लर, कद्दू, कुम्हड़ा, रेधू, कुंदरू, चिरौंटा, रिरुआ, भूरा जैसी सब्जियां शामिल हैं। हर आदिवासी परिवार अपने लिए सब्जियों का उत्पादन करता है। यह व्यवस्था उन्हें विभिन्न किस्म के पोषक तत्व प्रदान करती है। शायद इसीलिये यहां कोई भी परिवार ऐसा नहीं है जो रात में भूखा सोता हो। कुंदरू और मुनगा उनके पोषण को ऊंचा स्तर प्रदान करते हैं। कई वैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि पातालकोट के जंगल और खाद्य सुरक्षा के साथ इसके

जुड़ाव से आदिवासियों को लिनोलेनिक एसिड, प्रोटीन और माइक्रोन्यूट्रिएंट (जैसे- कैल्शियम, फास्फोरस, पौटेशियम, मैग्नीशियम, जिंक, कॉपर और आयरन) पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। वहीं दूसरी ओर हमारे देश में इन तत्वों की कमी कुपोषण का बड़ा कारण है। वे मांसाहारी हैं और बकरी, मुर्गे, भेड़ जैसे जानवर उनके भोजन का हिस्सा है। पेज उनका अहम् तरल भोजन है। जिसमें वे चावल का भात, कुटकी, समा मिलाते हैं और दही का मट्ठा मिलाकर बनाते हैं। किसी समय में केवल यही उनका भोजन होता था परन्तु अब अनाज सहित अन्य ठोस पदार्थ भी उनके भोजन के अहम हिस्से हैं। प्रोटीन के लिए वे बलर (सेम) की दाल का सतत् उपयोग करते हैं। महुये की गुल्ली का तेल उपयोग में लाते हैं। यह विश्लेषण आज की स्थिति का है।



डिंडौरी को भी देखें

डिंडौरी जिले के बैगाचक में आदिवासी अंग्रेजों की वन कानून की दमनकारी परम्परा को तोड़कर भारत की वन संरक्षण की मौलिक देशज व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने का जतन कर रहे हैं। बैगा आदिवासी बहुल बैगाचक इलाके के ढाबा गांव के कोठिया टोला के 18 परिवार आदिवासी पहचान और जंगल के संरक्षण के लिये पिछले दस-बारह सालों से बाजार, सरकार और समाज के पूंजीवादी तबके से लगातार संघर्ष कर रहे हैं। उनकी लड़ाई से एक बात जरूर सिद्ध हुई है कि आदिवासी समाज मूलतः प्रकृति-जंगल का संरक्षण करता है; परन्तु संरक्षण के इस काम में उसे सबसे पहले सरकार से जूझना पड़ता है।

कोठिया टोला के बैगा आदिवासियों ने अपने आसपास के लगभग 1000 एकड़ के जंगल को कटने से बचाया है। आज यह बैगाचक के इलाके में सबसे सघन और विविधतापूर्ण जंगल है। इस संघर्ष में एक अहम् भूमिका निभाने वाले सुक्कल सिंह आदिवासी इसे एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का हिस्सा मानते हैं। वे बताते हैं कि इस क्षेत्र में सन् 1980 से 82 के बीच के वर्षों में सबसे ज्यादा पेड़ काटे गए। तब यह देश के सबसे घने वनों का इलाका था। इसके घनत्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि माहुल बेला या लेन्ताना (एक किस्म की बेल) का इतना फैलाव था कि इससे 10 बड़े पेड़ ढंके होते थे और जमीन की सतह तक सूरज की रोशनी को आने नहीं देते थे। यहां का वातावरण 10 तरह के कंदों, 61 तरह के वृक्षों, 69 प्रकार के पक्षियों और 72 से ज्यादा तरह के औषधीय पौधों के उत्पादन के लिये आदर्श रूप ले चुका था।

सरकार के स्तर पर बैगाचक में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों के सरकारीकरण के खूब रणनीतिक प्रयास हुए। उनका मकसद था जंगल में मौजूद सामग्रियों से ज्यादा से ज्यादा राजस्व हासिल करना। उन्होंने इन जंगलों में प्रवेश किया और बेतरतीब दोहन करना शुरू किया। सुक्कल सिंह बताते हैं कि हमारे बीच आकर उन्होंने विकास और सुविधाओं के सपने बिखेर दिए। वे हमें बताते थे कि जब यहां सरकार, खासतौर पर वन विभाग अपने कार्यालय, अधिकारी और कर्मचारियों का तंत्र स्थापित कर देगा तो इससे यहां का जीवन बदल जाएगा। यदि हम सहजता से साथ नहीं देते थे तो वन कानून और वन्यजीव संरक्षण अधिनियमों के जरिये आतंक फैलाया जाता था। तब

विकास के मसले पर हमें भी लगता था कि जिंदगी बेहतर हो सकती है।

वन विभाग को अपना दायरा बढ़ाने के लिए सबसे पहले माहुलीबेला को काटना जरूरी था। आदिवासियों से यहां माहुलीबेला कटवाई गई, जिससे सूरज की गर्मी और वन विभाग का ढाबा जैसे 52 गांवों में विस्तार होना शुरू हुआ। माहुली बेला कट जाने के बाद जब पेड़ खुलने लगे तो उन्हें काटने के लिये बाहर के गांवों से मजदूर लाए जाने लगे। वन विभाग ने आदिवासियों को पेड़ कटाई के लिए मजबूर किया। उनके हाथ में मजदूरी के जरिए कुल्हाड़ी थमा दी गई। वन विभाग के कर्मचारियों ने खुद कुल्हाड़ी नहीं उठाई बल्कि आदिवासियों को ही जरिया बनाया। कोठिया टोला के शंकर सिंह पूछते हैं कि यदि पर्यावरण वाले, जंगली जानवर बचाने वाले और कानून बनाने-लागू करने वाले यह कहते हैं कि आदिवासियों ने जंगल काटा है तो वे यह भी बताएं कि इस बहुमूल्य जंगल से हासिल होने वाली धन-सम्पदा हमारे पास क्यों नहीं है? हम पूंजीपति क्यों नहीं हो गए, क्यों अब जंगल कटने पर हमें भूखे रह जाना पड़ता है? गहरे सवाल हैं यह!

सन् 1980-82 में आदिवासियों के सामने खाद्य सुरक्षा और आजीविका का संकट खड़ा हुआ। फिर इसके बाद वर्ष 1998 में जब मैकल पर्वत श्रृंखला में साल के जंगलों पर साल बोरर कीट (एक ऐसा कीड़ा जो साल के वृक्ष को खोखला करके सुखा देता है) का हमला हुआ। तब इस बीमारी को खत्म करने के नाम पर 10 लाख से ज्यादा पेड़ अंधाधुंध तरीके से काटे गए और महज दो सालों में 90 हजार हैक्टेयर से ज्यादा जंगल का सफाया हो गया। साल बोरर के खत्म हो जाने के बाद भी बीमारी की आशंका का तर्क फैलाकर वर्ष 2001 तक जंगल काटने-कटवाने का सिलसिला जारी रहा। हालांकि आदिवासी जानते हैं कि लगभग हर 35 साल के चक्र में साल के पेड़ों पर ही साल बोरर का आक्रमण होता है इसलिये जरूरी है कि एकल प्रजाति के वनों (मोनोकल्चर) को बढ़ावा देने के बजाए जंगल में अलग-अलग प्रजाति के पेड़ों को लगाया जाए। परन्तु पिछले 30 सालों में आर्थिक लाभ कमाने की नीति के तहत वन विभाग साल और सागौन को अनियोजित ढंग से एकल प्रजाति पद्धति के तहत बढ़ावा देता रहा, जिसका परिणाम 1990 के दशक में दिखा, जब साल बोरर के आक्रमण के कारण जंगल के जंगल खत्म हुए।

कन्हारी गांव के रायसिंह गोंड बताते हैं, 1980 के दशक के शुरूआती सालों में जब वन विभाग पेड़ कटवा रहा था तब हम यह सोच ही नहीं सकते थे कि जंगल कभी

खत्म भी हो सकता है। परन्तु 1980-82 और 1998-2001 में यह लगने लगा कि वास्तव में जंगल तो खत्म हो रहा है। जंगल के विनाश के यह दो ऐसे दौर रहे जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि जंगल के बिना हमारा जीवन संभव नहीं है। इन्हीं दो मौकों पर हमारे सामने भूखे पेट सोने की नौबत आई, भुखमरी जैसी स्थितियां पैदा हुईं और बच्चों में कमजोरी (कुपोषण) पैदा हुई।

फूलवती बाई कहती है कि जंगल का मतलब केवल लकड़ी नहीं है, इससे तो जीवन चलता है। हमारे लिए जंगल बचाने का आंदोलन वास्तव में अपने धर्म, आस्था और संस्कृति के साथ-साथ आदिवासी अस्मिता को बचाने का आंदोलन है। बरगद के पेड़ में बारमदेव का वास है, पीपल के पेड़ में ईश्वर है, अचार के पेड़ की डाल से शादी का मड़वा बनता है, डुमार के पेड़ को जलाने से खटमल पैदा होते हैं इसलिए इन्हें नहीं जलाते; पकरी के पेड़ से फल और भाजी मिलती है, कटोरी के पेड़ से बैलों की जुवाड़ी बनती है। जंगल से हमें 10 तरह के कंद मिलते हैं जो हमारे भोजन का अहम् हिस्सा हैं। ऐसे में जंगल खत्म करने की बात आदिवासी कर ही नहीं सकता। इंद्राबाई गोंड कहती हैं कि पिछले 15 वर्षों में जंगल लगभग खत्म होने की कगार पर पहुंच गया है। अपने एक हजार एकड़ के उस जंगल (भालूमुड़ा, जामवाला, चकियाकोना और छुईखदान) को बचाने के लिये हम 18 परिवारों को अपने जीवन को दांव पर लगाना पड़ा।



बेवर खेती का अर्थ

बैगाचक भी पातालकोट की ही भांति अपने आप में एक पूरी स्वतंत्र आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था रही है। यहां के आदिवासी यह मानते हैं कि जमीन और जंगल किसी की व्यक्तिगत या पारिवारिक सम्पत्ति नहीं हो सकते हैं। यह तो प्रकृति की सम्पत्ति है और प्रकृति ही हमारे जीवन का संरक्षण करती है। इसलिए जंगल और जमीन को हमें सहेज कर रखना चाहिए। बैगा समुदाय बेवर खेती की तकनीक का पालन करने वाला समुदाय रहा है। इसका मतलब यह है कि बैगा एक जमीन के टुकड़े पर एक वर्ष खेती करते हैं, इसे छोड़कर फिर दूसरे वर्ष दूसरे टुकड़े पर जाते हैं और फिर दूसरे टुकड़े को छोड़कर तीसरे टुकड़े पर जाते हैं। एक निश्चित समयावधि के बाद वह पहले टुकड़े पर वापस जाते हैं। जमीन पर निजी मालिकाना हक की मांग उनकी व्यवस्था में शामिल नहीं रही है। वैसे तो बैगा मूलतः जंगल के उत्पादों पर ही निर्भर रहे हैं परन्तु कृषि के संदर्भ में वे धान, कोदो-कुटकी, बैगानी राहर, उड़द की दाल की खेती करने लगे। यही उनकी खाद्य सुरक्षा के अहम् हिस्से हैं।

बैगा समुदाय लगभग 10 तरह के कांदों (जमींकंद) का अपने भोजन की सामग्री के रूप में उपयोग करते रहे हैं। ये सभी जमींकंद अपने आप में पोषक तत्वों से भरे-पूरे हैं। सैदूकांदा जब खा लिया जाता है तो किसी दूसरी सामग्री की जरूरत ही नहीं पड़ती थी, इसी से न केवल पेट भर जाता था बल्कि ऊर्जा भी मिलती थी। दुर्भाग्यवश जंगलों के विनाश के कारण इन कांदों का उत्पादन कम हुआ है। तिखुरकांदा, कनिहाकांदा, बिराड़कांदा, रबी कांदा, लोडंगीकांदा, दुरसीकांदा, बैचांदी कांदा, कडुगीकांदा, लोडंगीकांदा सहित सभी कांदे कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और ऊर्जा से लबरेज हैं किंतु जंगलों के विनाश के कारण यहां का वातावरण जमींकंदों के उत्पादन के अनुकूल नहीं रहा। जमीन में नमी की कमी, गर्मी में बढ़ोतरी, छांव और पानी की कमी के कारण कांदों का उत्पादन कम हुआ है। पर्यावरण में आये बदलावों का कांदों की उपलब्धता पर नकारात्मक असर पड़ा है।

जहाँ तक अनाजों का सम्बन्ध है, बैगा विविध बीज व्यवस्था के तहत खेती करते रहे हैं। बैगा खेती में 56 किस्म के बीजों का उपयोग करते थे। इस प्रणाली के तहत अलग-अलग समय पर पकने वाली फसलों के साथ ही साथ अलग-अलग आकार के पेड़ों वाले बीज शामिल रहे हैं ताकि जब कोई एक किस्म की फसल पक जाए तो

उसे आसानी से पहचान कर काटा जा सके और दूसरी फसल पकने तक उसी भूखण्ड में लगी रहे। बैगा मुख्यतः धान, राहर, उड़द, कोदो, कुटकी का उत्पादन करते रहे हैं। जहाँ तक हरी पत्तेदार भाजियों का सवाल है कुल 23 प्रकार की भाजियों का उपयोग बैगाचक के आदिवासी करते रहे हैं। इनमें से चेंच, चकोड़ा और पकरी ज्यादा उपयोग में लाई जाने वाली भाजियाँ हैं। उल्लेखनीय है कि साल के सभी महीने ये भाजियाँ मिलती हैं। परन्तु अब स्थिति बदल रही है, चेंच और चकोड़ा तो अब भी मिल जाती है पर इनकी मात्रा में बहुत कमी आई है। पकरी तो लगभग विलुप्त हो रही है। चरोटा की भाजी स्वास्थ्य और सेहत के दृष्टिकोण से बेहद उपयोगी रही है क्योंकि इसमें भरपूर कैल्शियम होता है। चरोटा को बैगा परिवार उबालकर सुखा लेते हैं और उसका भण्डारण कर लेते हैं ताकि समय-समय पर इसका उपयोग किया जा सके। चरोटा के बीज में बहुत से औषधीय गुण होते हैं इसलिये दवाइयों के बाजार में इसकी खूब मांग होने लगी है जिसके कारण बैगाचक से चरोटा बाहर ज्यादा जाने लगी है और स्थानीय परिवारों के उपयोग के लिये यह कम ही मिलती है। शतावर और मूसली की भी यहां बहुतायत रही है। जब से बाजार में इनकी मांग बढ़ी है अनियोजित ढंग से इनका दोहन किया गया और पर्यावरण में बदलाव के कारण भी इनका उत्पादन कम हुआ। जिससे घरों के पिछवाड़े पैदा होने वाली ये सामग्रियाँ आदिवासियों की पहुंच से ही दूर हो गई। दुखद तथ्य यह है कि मूसली और शतावरी जैसी औषधीय सामग्रियों की कमी का महिलाओं के स्वास्थ्य पर नकारात्मक असर पड़ा है क्योंकि गर्भावस्था और प्रसव के बाद ताकत देने वाली औषधि के रूप में इनका उपयोग होता रहा, जो अब इन महिलाओं को नहीं मिल पा रही है।

एक प्राकृतिक सुरक्षा चक्र आदिवासियों के खाद्यान्न और भोजन उत्पादन की प्रक्रिया को संरक्षित करता रहा है। एक तो घने जंगल होने के कारण जमीन की नमी खेती के लिये अच्छा माहौल बनाती है। यहाँ की ज्यादातर नदियाँ बारहों महीने बहती रही हैं और रासायनिक सामग्री का उपयोग इन्हें नहीं करना पड़ता। यहां कार्य कर रहे सामाजिक कार्यकर्ता परमानंद यादव बताते हैं कि मोढ़की सांप बैगाओं की खेती की सुरक्षा करते रहे, ये कई तरह के कीटों को खाकर खत्म कर देते थे। इसी तरह जंगली चूहा खेत में बिल बनाकर रहता था जिससे मिट्टी की निंदाई-गुड़ाई हो जाती थी। परन्तु अब ये बहुत कम हो गए हैं। इसी तरह तुमेली (मधुमक्खीनुमा एक कीड़ा) पेड़ों पर छत्ता बनाकर रहता था और फसलों को नुकसान पहुंचाने वाले कीटों को खत्म करता था, यह भी अब उतना दिखाई नहीं देता। कीटों को खाने वाली एक छोटी सी साल्हो

चिड़िया और फसल को बीमारी से बचाने वाला जदुरा सांप भी लगभग खत्म हो गया है। चपवार गांव के राम सिंह का अनुभव बोलता है कि इन सांपों, चिड़ियों और कीड़ों के खत्म होने से बैगानी राहर और उड़द की फसलों में ऐसे कीड़े लगने लगे हैं जो पहले नहीं लगते थे। वह कहते हैं कि पहले तो 16 जात (प्रकार) का खाना खाते थे अब तो एक जात का भी पूरा नसीब नहीं होता है। औसतन 4 से 5 एकड़ की जोत के किसानों वाले इस गांव के सभी 72 परिवार धान की खेती करते रहे हैं परन्तु पिछले चार सालों से लगातार यहां उत्पादन और उत्पादकता कम होती गई है। फूलसिंह बताते हैं कि एक एकड़ में हम लगभग 5 क्विंटल धान ले रहे थे फिर उत्पादन चार क्विंटल पर आया, तीन क्विंटल हुआ और इस साल तो बीज के बराबर भी पैदावार नहीं हुई।

इस इलाके में महामारी तो अब भी नहीं है परन्तु जो संकेत मिल रहे हैं वे अच्छे नहीं हैं। एक सुरक्षित और स्वच्छ पर्यावरण में रह रहे यहां के समाज ने वर्ष 2004 में पौंडी गांव में हैजा (कोलेरा) के प्रकोप को देखा, जिसमें कुछ ही घंटों में 13 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई थी। फूलसिंह बताते हैं कि बुखार तो पहले भी आता रहा है पर हम अपनी जड़ी-बूटियों से उसका इलाज कर लेते थे परन्तु अब ठण्ड देकर जो बुखार आता है उस पर तो हमारी जड़ी-बूटियां (औषधीय वनस्पतियां-जड़ें) भी असर नहीं करती हैं। फूलसिंह मलेरिया और वायरल बुखार की बात कर रहे हैं। जो यहाँ पिछले 8-10 सालों में तेजी से बढ़ता दिख रहा है। कोठिया टोला की रामबाई कहती हैं कि बच्चों में उल्टी-दस्त (डायरिया) की बीमारी भी बढ़ रही है। अब तो हर साल एक महीने गांव के सारे बच्चे इससे प्रभावित रहते हैं, मच्छर भी बढ़ रहे हैं। यहां जलग्रहण क्षेत्रों में तेजराज, भोगराज, कामराज, बड़ा सुखरा, हत्थाजोड़ी, अतिथि, तैलियाकंद, काली हल्दी, काली भूलन, शतावर और मूसली जैसे औषधीय पौधे पाए जाते रहे हैं। सुक्कल सिंह (जिनके पिता इस क्षेत्र के जाने-माने वैद्य रहे हैं) बताते हैं कि बैगा किसी समय में 61 प्रभावी औषधीय सामग्रियों को जानता और उपयोग करता रहा था। किन्तु अब तो केवल 10-12 ही जंगल में बची हैं अतएव कई बीमारियों का इलाज नहीं हो पा रहा है और हमें सरकारी अस्पतालों की दया पर निर्भर होना पड़ा है।



हमें सोचना होगा

भोजन महज एक तकनीकी और प्रयोगशाला का विषय नहीं है। यह विषय समाज और पर्यावरण के आपसी रिश्तों की व्याख्या करने वाला है। मौजूदा समाज ने जिस तरीके की खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने का मन बनाया है, उसके तहत एक व्यक्ति द्वारा साल में लगभग 164 किलो कचरे का उत्पादन होता है। घर में दूध से लेकर डिब्बाबंद अचार तक, पेयजल से लेकर अनाज तक, बिस्किट से लेकर नूडल्स तक यानी घर में भोजन के नाम पर उपयोग होने वाली हर सामग्री ऐसा कचरा पैदा करती है, जो प्रकृति के पेट में जाकर जम जाता है। वह मिट्टी में नहीं मिलता, वह सांस की नलियों में विषैली गैस बन कर फंस जाता है। यह विकसित समाज का असली चेहरा है। जिस पल अनाज, सब्जी, दाल, दूध, तेल का प्राथमिक उद्देश्य आर्थिक लाभ कमाना हो जाता है, तब समाज असमानता की चरम ऊँचाइयों पर पहुँच जाती है और पर्यावरण के बीमार होने की ऐसी प्रक्रिया शुरू हो जाती है, इसे पुनः अपना वास्तविक रूप लेने में हजारों साल लगेंगे।

खाद्य सुरक्षा का मतलब केवल उत्पादन नहीं है। खाद्य सुरक्षा का मतलब है हर जीव को दैनिक न्याय मिलना। इसका मतलब संसाधनों का असीमित शोषण नहीं बल्कि संसाधनों का संरक्षण है। इस बात को आदिवासी समाज और किसान हमेशा से समझता रहा है। यही कारण है कि उन्होंने सबसे ज्यादा गीत, सबसे ज्यादा चित्र, सबसे ज्यादा अभिनय और भाव-भंगिमाएं खेतों, नदियों और जंगलों पर रचे। परन्तु अब न्याय और नैतिक संरक्षण पर शोषण का शासन है।

क्या यह समाज हमेशा से भूख के प्रकोप के शिकार रहे हैं? खुले दिमाग से सोचें तो हमें पता चलता है कि उन्होंने अपनी ऐसी जीवन पद्धतियाँ विकसित कीं, जो उन्हें खुद पर निर्भर बनाती थीं और बाहरी व्यवस्थाओं के प्रकोपों से मुक्त रखती रहीं। वास्तव में उनकी स्वतंत्रता ने उन्हें आत्मनिर्भर बनाया। जब उनकी खाद्य स्वतंत्रता को विकास के नाम पर सीमित किया गया, उनकी आत्मनिर्भर व्यवस्था टूटती गयी। जिससे वे कुपोषण के शिकार हुए और अब वे सरकारी खाद्य-पोषण कार्यक्रमों के सबसे बड़े हितग्राही हैं।



विकास संवाद मीडिया फैलोशिप के तहत
पत्रकारों के शोध कार्य के
सम्पादित अंश



- लक्ष्मीनारायण अवधिया • रूबी सरकार • भूमिका कलम
- श्वेता शुक्ला • साकेत दुबे (शोधकर्ता)

बेवर वाले बैगा

लक्ष्मी नारायण अवधिया

डिण्डौरी जिले के बैगाचक में कुपोषण बढ़ता जा रहा है। आज पूरे इलाके में नौनिहालों के हाल बेहाल हैं। नदी नालों में केकड़े, मछलियां नहीं बची हैं और शिकार पर प्रतिबंध है। साल बोरर के हमले के बाद जंगल बेरहमी से काटे गए और छोटी मक्खी का शहद अब उपलब्ध नहीं हो पाता। जंगल के हाल बेहाल हैं। विविध वनस्पतियों से भरे इस जंगल में कुछ विशेष प्रजातियों के वृक्ष ही बचे हैं और उन पर भी इन बैगाओं का अधिकार नहीं है। जंगल में कंद तो ढूंढे नहीं मिल रहे हैं। तेंदू, अचार, चिरौंजी, आंवला पर बाजार की नजर पड़ गई है। तीखुर, बैचांदी तो अब मिलते ही नहीं हैं।

बैगा अपनी पारंपरिक खेती से दूर हो गये हैं। कोदो कुटकी, ज्वार, मक्का, सरसों, बैगानी अरहर की जगह नगदी फसलों ने ले ली है। मण्डिया, कांग और कुटकी की कई किस्में अब खेती से नदारद हो गई हैं। बैगानी अरहर के स्थान पर यहां संकर अनाज लहलहाने लगा है। वर्तमान में जो भी अनाज बैगा उगाते हैं वह उनकी पोषण जरूरतों को पूरा नहीं करता है।

बेवर पद्धति की खेती पहले बैगाओं के जीवन का मुख्य आधार थी और उनकी खाद्य सुरक्षा व पोषण जरूरतों को पूरा करने में अहम योगदान देती थी। अब अधिकांश इलाकों में बेवर की प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी है।

बैगा जनजाति के अधिकांश घरों में अनाज कोठी देखी जा सकती है जिसमें बैगा अनाज को सहेज कर रखते हैं। पहले अनाज कोठियों में विभिन्न किस्मों के अनाज रहते थे परंतु अब कुछ ही किस्में नजर आती हैं क्योंकि बैगाओं ने विविधतापूर्ण अनाजों की पैदावार बंद कर दी है और कोठियों में बोवनी के लिये बीज के संग्रहण का प्रचलन बढ़ गया है। वह भी अच्छी उपज हो गई तो अन्यथा बाजार पर आश्रित रहना पड़ता है।

हरी-भरी वादियों और प्राकृतिक संपदा के बीच निवास करने वाली बैगा जनजाति अपनी बोली, रहन-सहन, पहनावे, खानपान व आदतों के कारण एक अलग पहचान रखती है। मगर समय के साथ इन बैगाओं में भी परिवर्तन आने लगा है और ये आजकल प्राकृतिक वस्तुओं के बजाय भौतिकता पर निर्भर हो गए हैं। शहरी जीवन

जीने के लिए आर्थिक संसाधनों की आवश्यकता होती है जो इनके पास तनिक मात्र भी नहीं है। परिणामस्वरूप इनके सामने भोजन का संकट खड़ा हो गया है। बैगा न तो अब शिकार करते हैं और न ही खेती। फिर इन्हें सम्पूर्ण आहार मिले कैसे? अगर आज भी बैगा स्वतंत्र हों तो अपना सम्पूर्ण व संतुलित आहार स्वयं पा सकते हैं। उन्हें भोजन के लिए किसी सरकारी, गैर-सरकारी योजना की आवश्यकता नहीं है।

वह पहले सुबह का समय खेत पर बिताते थे और दोपहर में आखेट करते थे और बचे हुए समय में जंगल से कंद मूल व औषधियां लेने जाते थे। पर धीरे-धीरे बाजार में सुगमता से मिलने वाले बीज, अनाज और दवाइयों ने इनकी जगह ले ली। अब वे कोदो कुटकी जैसे अनाज नहीं उगाते क्योंकि इनकी जंगली सुअरों से रखवाली करनी पड़ती है। अब गेहूं, मक्का और धान उगाते हैं। चूंकि गाय बैल व भैंस जैसे जानवर यहाँ नहीं पाले जाते जो इन फसलों को खा जाते हैं। सो आराम से एक बार बोवनी कर भूल जाते हैं। अगर मौसम बेईमान हो गया तो फसल चौपट होने पर सरकार की ओर टकटकी लगाते हैं।

सरकारी योजना के हाल किसी से छुपे नहीं हैं। बैगाओं के नाम पर चलने वाली योजनाओं का लाभ इन्हें नहीं मिल पाता। इनके लिए तो विशेष विभाग तक बना दिया गया है पर वह भी कागज तक ही सीमित है। आंगनवाड़ी भी नाममात्र को संचालित है। गर्भवती व धात्री महिलाओं को पोषण आहार के नाम पर खानापूर्ति कर सरकार खुद की पीठ थपथपा लेती है। हकीकत यह है कि वयस्क महिलाओं की बात तो दूर, बच्चों को ही आंगनवाड़ी में संतुलित भोजन नहीं परोसा जाता।

दूसरी ओर शिकार पर प्रतिबंध के कारण भी इनके भोजन में पोषक तत्वों की कमी आ गई है और वे कुपोषित और सुस्त रहने लगे हैं। पहले तीर कमान और भाला बाजू में लटकाकर चलते बैगा का शिकार का तरीका भी नायाब था। पीपल, बरगद और अन्य वृक्षों के फल के रस को मिलाकर चिपकने वाला पदार्थ बनाकर उससे शिकार करते थे या तीर पर मीठा नामक जहर लगाकर शिकार को घायल कर फंसाया जाता था।

कंद-मूल और औषधियों के सेवन से बैगा निरोगी रहते थे। अब बीमार भी होते हैं और अपना इलाज जड़ी बूटियों से नहीं करते बल्कि अस्पताल जाकर दवा गोली का उपयोग करते हैं। वास्तव में बैगा जनजाति के लोगों ने सिर्फ अपना पहनावा नहीं बदला है बल्कि अपने विचार, अपने त्योहारों रीति रिवाजों से भी खुद को काफी कुछ

विरक्त कर दिया है। बैगाओं के रीति रिवाज और त्यौहार तक भोजन में पोषण को पूरा करने में भूमिका निभाते थे। जैसे लाडू काज पूजा में ग्रामीण मिलकर एक सूअर को पालते हैं और बारिश के मौसम में जब जंगल जाना दूभर हो जाता है उस समय नारायण देव को सूअर की बलि चढ़ाकर उसके मांस को पूरा गांव मिलकर खाता है। इससे गांव में एकता भी बनी रहती है और पोषण भी मिल जाता है। ऐसे कई त्यौहार हैं जिन्हें गांव वाले मिलकर मनाते हैं और सामूहिक रूप से मांस व मदिरा का सेवन करते हैं।

बैगा समेत विभिन्न आदिवासी समुदायों में सामूहिकता का महत्वपूर्ण स्थान होता था। विपरीत समय के लिए भी अनाज की उपलब्धता सुनिश्चित करते थे ताकि यदि अकाल पड़ जाये या खेत का अनाज किन्हीं कारणों से समाप्त हो जाए तो उन्हें अनाज के लिये यहां वहां न भटकना पड़े इसके लिये फसल आने पर गांव के एक प्रमुख स्थान पर सभी लोग सामूहिक तौर पर उपज का एक हिस्सा एकत्र करते थे उस पर उनका व्यक्तिगत अधिकार न होकर गांव का सामूहिक अधिकार हो जाता था। उसे रामकोठी कहा जाता था। रामकोठी से लिये अनाज को मय ब्याज के वापिस करते थे। यह ब्याज भी अनाज के रूप में ही होता था। इस प्रकार से रामकोठी का अनाज लगातार बढ़ता ही जाता था। आज रामकोठी किसी गांव में नहीं है जिस कारण विपरीत परिस्थितियों में बैगा की खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित नहीं रहती है।



कोरकू करते हैं, चिड़िया-चुग खेती

रूबी सरकार

कोरकू जनजाति मध्यप्रदेश में सतपुड़ा के वनांचलों में निवास करने वाली प्रमुख जनजाति हैं। मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा, बैतूल जिले की भैंसदेही और चिचोली तहसील, होशंगाबाद, हरदा जिले की टिमरनी और खिड़किया तहसील, पूर्वी निमाड़ (खण्डवा) की हरसूद तहसील और बुरहानपुर जिले के अलावा महाराष्ट्र में अकोला, मेलघाट तथा मोर्शी तालुके में भी कोरकू निवास करते हैं। यह जनजाति 19वीं सदी के अंत तक जंगलों में झूम खेती करती थी। निमाड़ के 1901 के गजट में दर्ज है कि कोरकू जंगल में झूम खेती और शिकार से अपनी आजीविका प्राप्त करते थे। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में कोरकू जनजाति द्वारा झूम खेती करने का उल्लेख मिलता है। इसमें हल-बक्यूर की जरूरत नहीं पड़ती थी। कोरकू इसे चिड़िया चुग खेती भी कहते हैं। इसमें एक पायली बीज से 100 पायली अनाज पैदा होता था। इस तरह की खेती के लिए सबसे पहले खेती की जमीन पर छोटे-छोटे पेड़ों की टहनियां, झाड़ियां और पत्ते बिछाकर आग लगा दी जाती है। इससे बनने वाली राख की परत पर बीज बोया जाता है। बारिश होने पर यह बीज अंकुरित हो जाते हैं। यह पूरी तरह जैविक और रसायन मुक्त खेती है। इसमें फसल को रोग नहीं लगता और बीज भी सुरक्षित रहता है। परंतु अब सरकार ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया है। यह खेती कई मायनों में अनूठी है। इस खेती में न केवल खाद्यसुरक्षा व भोजन के लिए जरूरी पोषक तत्व प्राप्त हो जाते हैं, बल्कि जलवायु परिवर्तन से होने वाले नुकसानों से बचाने की क्षमता भी इसमें थी। प्रमुख बात यह है 16 प्रकार के अनाज मिलाकर बोने से अकाल के समय में भी इनके पास कुछ न कुछ अनाज होता था। अध्ययन बताते हैं कि झूम खेती से जंगल को नुकसान नहीं पहुंचता है, बल्कि इससे जैव विविधता कायम रहती है। इसीलिए वर्षों पहले आदिवासियों का जीवन झूम खेती और जंगल से प्राप्त होने वाले गैर-खेती भोजन पर ही आधारित था।

20वीं शताब्दी के प्रारंभ में कुछ लोगों ने गेहूं उगाना शुरू कर दिया था। ये अधिकतर महाराष्ट्र के इलाके थे। उस वक्त कोरकू तीन तरह के ज्वार की फसल उगाते थे - अमनेरी, हौरी और उजली। ज्वार और कपास के बाद तीसरी सबसे बड़ी फसल तिल की हुआ करती थी। यहां की जमीन तिल उगाने के लिए बहुत अच्छी थी। एक एकड़

में 150 से 200 किलोग्राम तिल पैदा होता था। जंगली जानवर तिल को नुकसान भी नहीं पहुंचाते थे। 20वीं सदी के शुरू में (सन् 1905-06 में) खेती की कुल जमीन 8 लाख एकड़ थी, जिसमें से 3 लाख एकड़ में कपास, 2 लाख एकड़ में ज्वार उगाया जाता था। तिल 86 हजार एकड़ में उगाया जाता था। सन् 1915-16 में करीब 1 लाख एकड़ में तिल उगायी गई थी। स्थिर जीवन जीवन के मोह ने जंगल से मिलने वाले भोजन और पोषण को छीन लिया। सन् 1927 में बने वन कानून के चलते शिकार पर तो प्रतिबंध लग ही गया था। साथ ही जंगल से मिलने वाले अनेक कंद-मूल से भी वे वंचित हो गए। क्षेत्र का प्रमुख भोजन ज्वार था। साथ ही कोदो, कुटकी, सांवा, उड़द, मूंग और चावल भी उगाये और खाये जाते थे। 20वीं सदी के प्रारंभ में 25 फीसदी क्षेत्र में ज्वार और 9 फीसदी रकबे में तिल उगाया जाता था, जो प्रमुखतः तेल के रूप में इस्तेमाल होता था। स्थिर जीवन के दौरान कोरकू अधिकतर कृषि मजदूर ही रहे और 2001 की जनगणना में आधे से भी अधिक यानी करीब 55 फीसदी कोरकू परिवारों को कृषि मजदूर दर्शाया गया है।

21 वीं सदी के आते-आते ज्वार की पैदावार इस क्षेत्र में केवल सात फीसद रह गयी और कोदो, कुटकी महज दो फीसद। अगर दालों की बात की जाए, तो उड़द सिर्फ 2 फीसदी तक सीमित रह गई है। इनकी जगह सोयाबीन और गेहूं ने ले ली है। आज सरकारी आंकड़ों के अनुसार 60 फीसदी रकबे में सोयाबीन और 62 फीसदी रकबे में गेहूं उगाया जा रहा है। यह त्रासदी है कि कोरकू किसानों ने भी इसे अपनाया हालांकि सोयाबीन उनकी खाद्य संस्कृति का हिस्सा नहीं है और गेहूं भी खाने से ज्यादा बेचने के लिए इस्तेमाल होता है। इसी प्रकार क्षेत्र में तिल का रकबा घट कर एक फीसदी से भी कम रह गया है। लंगोटी गांव की मिसरी बाई के अनुसार मौसम के बदलाव का भी इसमें योगदान रहा है। अब बारिश का कोई भरोसा नहीं रहा। बेमौसम बरसात से ज्वार की फसल बर्बाद होने लगी है। करीब 50 साल पहले तक यहां ज्वार की फसल लहलहाती थी। लेकिन धीरे-धीरे जलवायु परिवर्तन और प्रमुख फसलों के प्रति आर्थिक दिलचस्पी के कारण ज्वार के प्रति उनका लगाव समाप्त हो गया।

1970 के आस-पास तक पड़ोसी जिलों हरदा और होशंगाबाद के बड़े किसान कोरकू किसानों से एक बोरी गेहूं के बदले तीन-चार बोरी कोदो, कुटकी ले जाते थे ताकि उनकी गर्भवती और धात्री महिलाएं पोषण प्राप्त कर सकें। सीमित क्षेत्र में बसाहट और वनों पर निर्भरता के कारण इनकी आजीविका के स्रोत भी अत्यंत कम रहे हैं। कृषि की विकसित तकनीक के अभाव में अनाज का उत्पादन भी अपेक्षाकृत कम होता था।

इधर जलवायु में बदलाव से न तो खेती ठीक से हो पा रही है और न ही उन्हें जंगल से उत्पादित भोजन प्राप्त हो पा रहा है। इससे उनकी आजीविका और जीवन पर अभूतपूर्व संकट मंडरा रहा है। जलवायु परिवर्तन के कारण उनके अनेक पेड़ पौधे, जड़ी-बूटियां, जो ज्यादा नमी और कम तापमान में पलती थीं, धीरे-धीरे समाप्त हो रही हैं।

कोरकू समुदाय का मुख्य भोजन खेती से प्राप्त पदार्थ, जंगली फल-फूल और अनेक प्रकार का मांस है। खेती से मुख्य रूप से कोदों, कुटकी, साँवा, बाजरा, मक्की, ज्वार, गेहूं, तूवर, तिवड़ा, तिल्ली आदि मिलते हैं। साग सब्जियों में अमाड़ी, चैन का पाला, गिलकी, तीरवां, कड़ू, ककड़ी, लौकी आदि मिल जाते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले कोरकू भाजी पाला ही अधिक खाते हैं। सघन जंगलों में रहते हुए कोरकू नाना प्रकार के जंगली पशुओं का मांस भी खाते रहे हैं। बकरे का मांस, खरगोश, मुर्गे, मुर्गियां, मछलियां, केकड़ा, तितर, होल्गी आदि प्रमुख थे। महुआ, गोंद, चिरौंजी, बेर, मकई, गूलर, इमली के पत्ते, फूल या कुछ पेड़ों की छाल भी उबालकर खाते रहे हैं।

कोरकू अनाज के अभाव में पेट भरने के लिए लचका जैसे पतले खाद्य का उपयोग भी करते हैं। नागपुर विश्वविद्यालय की शोधकर्ता अमित कौर पुरी ने महाराष्ट्र के यवतमाल में कोरकुओं पर एक अध्ययन में पाया कि कोरकू पहले पेड़ की पत्तियों से लेकर तना और जड़ तक खाते थे। फिलहाल उनके आहार में कार्बोहाइड्रेट, मिनरल्स और विटामिन तो हैं, पर प्रोटीन नहीं। शोध में पाया गया है कि कोरकुओं को पहले जंगल से कई तरह की फलियां, मशरूम भी मिल जाते थे। मही (छाछ) का भी बहुतायत से उपभोग करते हैं। इसके अलावा उन्हें पालतू पशुओं से दूध और मछली, मांस भी मिलता था, जो प्रोटीन का मुख्य स्रोत था। ग्वालियर विश्वविद्यालय के अशोक के. जैन और प्रीति के. तिवारी के अध्ययन से यह सामने आया है कि जो कोरकू जंगल में रहते हैं, उनके भोजन में प्रोटीन के साथ सूक्ष्म पोषक तत्वों की मात्रा बाकी से काफी अधिक है। इसी अध्ययन में सामने आया है कि सूखे या अकाल जैसी प्राकृतिक आपदा के समय मध्य क्षेत्र के आदिवासी 28 तरह की जंगली वनस्पतियां खा लेते थे। इनमें पेड़ की सूखी छाल, तने, कंद, सुखाकर रखी गई भाजियां, सूखी मछली, शिकार के मांस को सुखाकर रखने जैसे कई प्रयास देखने को मिले थे, लेकिन अब आधुनिक खेती या सरकारी राशन व्यवस्था पर आश्रित हो चुके कोरकुओं के पास यह चीजें उपलब्ध नहीं हैं। इसमें केला, केले की जड़, आम की गुठलियां, शकरकंद, कुछ खास तरह के जंगली मशरूम भी शामिल रहे।



चुनौतियों के साथ बसे भील

भूमिका कलम

मध्यप्रदेश की आदिवासी जनजातियों में सबसे संपन्न और जागरूक जनजाति है भील, मगर इनकी जमीनी हकीकत कागजी आंकड़ों से कोसों दूर है। कारण भी साफ है, परंपराओं में सशक्त इस समुदाय के विकास की परिभाषा समझने में ही कहीं न कहीं चूक हो रही है, या कहें कि जिन नीतियों से देश या प्रदेश का आर्थिक विकास तय हो रहा है, यह इस वर्ग के अनुकूल नहीं है। दरअसल, जनजातियों के जीवन की संरचना, आर्थिक विकास या पोषण की सुरक्षा के मापदंड बिल्कुल ही भिन्न हैं। इस ताने-बाने में उनकी जिंदगी के सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं जल, जंगल और जमीन। आजीविका और पोषण की बेहद बुनियादी और महत्वपूर्ण जरूरतों के लिए भील जनजाति इन्हीं पर निर्भर थी। पोषण की सुरक्षा के लिए जंगल और उससे लगी जमीन पर खेती प्रमुख व्यवसाय था। खेती के अपने प्राचीन तरीकों से वे परिवार का पोषण सुनिश्चित कर रहे थे। वर्तमान में कुपोषण की चपेट में आ चुकी भील जनजाति कभी अपनी परंपराओं में काफी समृद्ध, आर्थिक प्रबंधन में माहिर और पोषण और स्वास्थ्य की जानकार मानी जाती थी। इनकी अपनी जीवन नीतियां बड़ी सशक्त थीं और वे जंगल और जमीन के भरपूर उपयोग के साथ उसे सहेज भी रही थीं।

झाबुआ जिले में भील आदिवासी रहते हैं जिनकी उप-जातियां भील, भिलाला, पटलिया और बारेला आदि हैं। ये सब मिलकर जिले की कुल आबादी का 86.8 प्रतिशत हैं। यह जिला मालवा के दक्षिण में विंध्य पर्वत श्रेणियों में स्थित है। यहां बहुत कम जंगल हैं और भारी भू-क्षरण होता है। यहां कृषि पूरी तरह से वर्षा पर निर्भर है। आदिवासियों के पास जमीन के रकबे काफी छोटे और अधिकांश पथरीले हैं, जिसमें कम उपज होती है। सोलहवीं सदी और उसके बाद मुगलों और राजपूतों के दबाव के कारण भीलों को मालवा के पठार और निचली नर्मदा घाटी की सीमा के निमाड़ के मैदानों की ज्यादा उपजाऊ भूमि को छोड़ना पड़ा और खेती करने के लिए जंगली, पहाड़ियों में जाना पड़ा। व्यापार और स्थायी कृषि के बढ़ने से यह प्रक्रिया और तेज हो गई, क्योंकि मैदानों पर अधिकाधिक जंगल काटकर खेती की जाने लगी। अंग्रेजों ने 1860 के दशक के बाद खानदेश में सड़कों, रेलवे लाइनों को बिछाकर इस बदलाव को तेज कर दिया और इन इलाकों को व्यापार और साहूकारों के लिए खोल दिया।

हालांकि पश्चिमी मध्यप्रदेश सड़कों और रेलों के तानेबाने से अब तक लगभग अछूता ही रहा। जंगल और खेती की जमीन पहुंच के बाहर होने, भारी कर के भार और साहूकारों के शोषण के कारण भील आजादी के पहले ही हाशिए पर हो गए थे। दुर्भाग्य से आदिवासियों के प्रति यह औपनिवेशिक संवेदनहीनता आजादी के बाद भी कायम रही जिसके कारण आदिवासियों की बड़ी आबादी का विस्थापन हुआ और वे परेशानी में पड़े। इसके बाद पलायन यहाँ बड़ी समस्या बन गया।

बदला खाद्यान्न : परंपरागत खेती से हटे और कुपोषण में फंसे

मध्यप्रदेश के आदिवासी इलाकों ने जैसे-जैसे अपने पारंपरिक खाद्यान्नों को खोया वैसे-वैसे उन पर कुपोषण की चपेट बढ़ती गई। हालिया दो उदाहरण इसे समझने के लिए मुनासिब होंगे। पहला जिसमें महाराष्ट्र के अहमदनगर की संगनौर तहसील के आदिवासी अपनी जंगली परंपरागत खेती कर कुपोषण और बीमारियों को दूर कर रहे हैं। इसी तरह बाजरा के लौह तत्व से उन्नत किस्में बनाकर इंटरनेशनल क्रॉप रिसर्च सेंटर ने दावा किया कि बाजरा कुपोषण दूर करने वाले खाद्यान्नों में एक महत्वपूर्ण खाद्यान्न है। बाजरा भील जनजाति का पारंपरिक भोजन रहा है। ऐसे प्रयोग मक्का, कोदो, कुटकी को लेकर भी जारी हैं। भील जनजाति मोटे अनाजों को अपने भोजन में शामिल कर कई पोषक तत्वों की कमी से दूर थी। खाद्य सुरक्षा कानून में गेहूँ, दाल, चावल की एक निश्चित मात्रा का प्रावधान करने की कोशिश तो की गई, लेकिन पोषक तत्वों के अनुपात और प्रति व्यक्ति कैलोरी उपभोग को फिर नजरअंदाज कर दिया गया। अक्टूबर 2012 में झाबुआ के मेघनगर ब्लॉक के अगासिया और मदरानी गांवों में कुपोषण और रक्तअल्पता के कारण 20 मासूमों ने दम तोड़ था। बच्चों की मौत का सिलसिला जारी रहा और सरकारी योजनाओं में कई प्रयोग भी। सरकारी आंकड़ों के अनुसार आज भी जिले के 54 फीसदी बच्चे कुपोषण और 36 फीसदी अतिकुपोषण के शिकार हैं। क्षेत्र में कार्य कर रहे गैर सरकारी संगठनों के अनुसार सरकारी प्रणाली ने यहां कुपोषण के आंकड़े जुटाने और आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं की हाजिरी पर बहुत जोर दिया, लेकिन कुपोषण की जड़ में जाने के लिए शायद कोई सिस्टम ही नहीं है।

तीन साल से कम उम्र के बच्चों की मौत का सबसे बड़ा कारण डायरिया बताया जा रहा है। इलाके के एक स्वास्थ्य अधिकारी बताते हैं कि भील आदिवासी बच्चों के शरीर में जिंक और आयरन की कमी के कारण वे उल्टी दस्त से नहीं लड़ पाते और दम तोड़ देते हैं। यह कारण सामने आने के बाद प्रशासन ने बच्चों को आंगनवाड़ी में

जिंक और आयरन की गोलियां देने का उपाय खोजा है। इसके दूसरे पहलू पर नजर डालें तो खाद्यान्न में सुधार की कोई बात ही नहीं की गई।

एक हालिया अध्ययन के अनुसार गरीबों का भोजन रहा बाजरा अब उनकी सेहत का रखवाला भी कहा जा रहा है। जर्नल ऑफ न्यूट्रीशन के अनुसार इस बात की पुष्टि हुई है कि बाजरे की किस्मों में आयरन की मात्रा कई गुना बढ़ाई जा सकती है। सामान्यतः भी बाजरे में अन्य अनाजों की तुलना में आयरन की मात्रा 10 फीसद से अधिक ही होती है। महाराष्ट्र के अहमद नगर के संगनौर तहसील के सोमनाथ कुटे ने एक चर्चा में बताया कि इलाके के जो आदिवासी पिछले सालों में जंगलों से बाहर आ चुके थे उनमें स्वास्थ्य की परेशानियां लगातार बढ़ रही थीं। हालात यहां तक पहुंचे कि इलाज कराने के कारण हर दूसरे परिवार पर कर्ज का बोझ बढ़ रहा था। तब कई परिवारों ने शहरी इलाकों में पलायन के बजाय जंगलों में लौटना ठीक समझा और अपनी परंपरागत खेती को अपनाया। इसमें मुख्य पुरानी फसलों को फिर से बोया जिसमें कालाभात, कोदो, कुटकी और मांडू (पारंपरिक मूंगफली) शामिल है। कुटे के अनुसार तीन वर्षों में ही आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए और आदिवासियों में बीमारियां कम हुईं, बच्चे और माताएं अपेक्षाकृत अब पुष्ट हैं। इंदौर के पास महु में ही खेती करने वाले बाग सिंह का कहना है कि आदिवासियों ने अपनी एक फसल और खो दी जिसे अंबाड़ी कहते हैं। यह लाल रंग का फल देने वाला झाड़ीनुमा पौधा होता है, जो लौह तत्व से भरपूर है। एक समय इस कांटे वाली जंगली झाड़ी के पत्तों से सब्जी, फल से शर्बत और तने से रस्सी बनाकर खेती कार्यों में इसका उपयोग किया जाता था। अब महाराष्ट्र के कई इलाकों में इसकी व्यावसायिक खेती हो रही है।

मोटा अनाज जिसे कुछ दशक पहले शहरी वर्ग बहुत ही हेय दृष्टि से देखता था आज महंगे दामों पर भी बड़े चाव से खरीदकर खा रहा है। इस बदलाव की वजह यह नहीं कि महीन अनाज समाप्त हो रहा है या उसकी उपलब्धता कम हो रही है, बल्कि वजह है उस मोटे अनाज की पौष्टिकता जिसे तमाम वैज्ञानिक अध्ययन भी सिद्ध कर चुके हैं। अनाजों पर हो रही लगातार रिसर्च के परिणाम यह हैं कि आदिवासियों के खेतों और जंगलों में उगने वाले यह अनाज बड़े शो रूम में पैक और महंगे दामों में बेचे जा रहे हैं। रागी, राजगिरा (रामदाना), कुट्टू, अलसी, जौ, जई (ओट), कोदो और कुटकी ऐसे खाद्यान्न हैं जो पोषक तत्वों से भरपूर हैं। आदिवासी इन अनाजों को बोते और खाते थे लेकिन धीरे-धीरे इन अनाजों पर बड़े लोगों की नजर लग गई और वे आदिवासी थालियों से निकलकर शहरी लोगों की थाली में पहुंच गए। कृषि वैज्ञानिक

अरुण डिके के अनुसार यह कुछ ऐसे आदिवासी अनाज हैं जो अब उनसे दूर होते जा रहे हैं, और इसी वजह से उनका पोषण उनसे दूर हो रहा है।

अनाज जो ब्रांड बन गए

आज शहर में ओट्स सबसे पसंदीदा नाश्ता है। आदिवासी खेतों में पैदा होने वाला यह अनाज बड़े ब्रांडों के बैनर तले महंगे दामों में बिक रहा है। ओट्स में पौष्टिकता भरपूर होती है। इसमें चूना, लोहा, मैगनीज, थायमिन, रायबोफ्लेविन सहित विटामिन ई और बी प्रचुर मात्रा में होते हैं। ओट्स कोलेस्ट्रॉल, ब्लड प्रेशर और शुगर की बीमारी ठीक करने में काफी मददगार होता है। इसके सेवन से शरीर की प्रतिरोधक क्षमता भी बढ़ती है। राजगिरा जिसे रामदाना भी कहते हैं उसमें गेहूं से तीन गुना अधिक आयरन और पांच गुना अधिक फाइबर होता है। इसमें अमिनो एसिड के साथ ही टॉकोट्रायनॉल नामक विटामिन ई होता है, जो खून में कोलेस्ट्रॉल को नियंत्रित करता है। इसका दाना या आटा पचने में आसान होता है और बीमार लोगों को शीघ्र स्वस्थ करता है।

रागी में प्रचुर मात्रा में प्रोटीन और कैल्शियम होता है। रागी में भी फाइबर की मात्रा बहुत अधिक होती है। यह कब्ज का रामबाण इलाज माना जाता है। रागी में ग्लाइसेमिक एसिड होता है, इससे बनी मदिरा या खमीर शुगर की बीमारी के लिए बहुत ही उपयुक्त है। पेट के अल्सर को नियंत्रित करने में भी रागी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्राकृतिक रागी से बनी शराब में एन्टीऑक्सीडेंट के गुण होते हैं। 100 ग्राम रागी में 328 किलो कैलोरी की ताकत होती है। कुट्टू में आठ आवश्यक अमिनो एसिड के साथ प्रचुर मात्रा में विटामिन ई होता है। यह रक्त में कोलेस्ट्रॉल कम करता है और रक्तचाप ठीक रखता है। कोदो भी मोटे अनाज की श्रेणी में आता है। 100 ग्राम कोदो में 309 किलो कैलोरी ऊर्जा होती है, साथ ही साथ उतनी मात्रा में ही 27 मिली ग्राम कैल्शियम, 188 मिलीग्राम फास्फोरस और 0.5 मिली ग्राम आयरन भी होता है। कोदो में थायमिन, राइबोफ्लेविन और निकोसिन जैसे विटामिन के साथ-साथ मैग्नेशियम, सोडियम, पोटेशियम, कॉपर और सल्फर जैसे खनिज तत्व भी होते हैं। अलसी बहुमूल्य दलहनी फसल है, जो रबी में अत्यन्त कम पानी में आसानी से पक जाती है। इसमें 33 से 47 प्रतिशत तेल होता है। अलसी में पाए जाने वाला फैटी एसिड ओमेगा थ्री के नाम से जाना जाता है। इसमें अल्फा - लिनोलीक एसिड, लिग्नन और रेशे भी रहते हैं। दिल के मरीजों के लिए इसका बड़ा महत्व है, इसकी निश्चित मात्रा शरीर में वक्षस्थल और बड़ी आंत के कैंसर होने की संभावना को कम करती है।



कोल समुदाय की खाद्य सुरक्षा

श्वेता शुक्ला

कोल एक मेहनतकश जनजाति है। लंबे अरसे से इस जनजाति के लोगों से बेगारी और मजदूरी का काम कराया जाता रहा है। पुरानी डिण्डौरी निवासी कोल समाज के बुजुर्ग माखन लाल सरैया के अनुसार पहले से ही कोल जाति के लोगों के भरोसे ही खेती का काम कराया जाता था और इस जाति ने धरती से अनाज उपजा कर सर्वर्ण समाज का भरण-पोषण किया और कभी स्व की भावना नहीं रखी। इसलिए मजदूरी ही इनकी मजबूरी बन गई। कोल के द्वारा उपजाए गए अनाज से समाज पोषित हुआ पर कोल समुदाय को एक-एक निवाले के लिए संघर्ष करना पड़ा और वो कुपोषण के शिकार होते चले गए।

इस समुदाय में आर्थिक सम्पन्नता तो नहीं थी पर जल, जमीन, जंगल और वहां पाई जाने वाली जैवविविधता के मध्य ही इस समुदाय ने परंपरागत तरीके से अपनी खाद्य एवं पोषण सुरक्षा का तंत्र विकसित कर रखा था। इनके पास पारम्परिक और व्यवहारिक ज्ञान का भण्डार था। समय बीतता गया और वर्तमान में दमनात्मक नीतियों के कारण से यह भण्डार खाली होता चला गया।

कोल जनजाति की दुर्दशा पर आवाज उठाने का साहस किसी ने नहीं किया। आज इस जनजाति के पास सबसे बड़ा संकट है पोषण और खाद्य सुरक्षा का। कोल जनजाति का स्वास्थ्य, शिक्षा, रहन सहन, खान पान बेहद निम्न स्तर का हो गया है। कोल जनजाति और जंगल दोनों के बीच बहुत ही प्रगाढ़ रिश्ता था। प्रकृति के नजदीक रहने वाली यह जनजाति जंगल पर आश्रित रहती आई है, लेकिन आज के परिदृश्य में कोल जनजाति का अस्तित्व जंगल से समाप्त हो गया है, इससे कोल जनजाति की खाद्य और पोषण की सुरक्षा समाप्त हो गई है।

क्या-क्या मिलता था जंगल से

जानकारों के अनुसार जब पूरे इलाके में जंगल हरा भरा था तो यहां पर चारों ओर कंद की कई प्रजातियां पाई जाती थीं। जिले में रताल, बैचांदी, रविकांदा, कनिहा, डोंगची, कुलु, कंवची, भूत, पांडरी, लोडंगी, डोमची, गीठ, पांडरी, माठी, डांग, बडाईन, गिरची सेंदू व मूसली और शतावर मुख्य थे। इसी तरह फलों में आम, कटहल, टेमरू, सीताफल, अमेल, आंवला, हर्रा, बेर, पपीता, करोंदा, बहेरा, महुआ, साल, ककई,

भिलवा, जामुन, मुनगा, बर, कचनार, मैन्हर, तेंदू, चार, बेल, घटेल, करोंद, भाजियों में कचनार, चरौटा, भतरी, दोबे पीपल, खट्टी पत्ता, कोयलार, मुनगा, रभेड, धोय, कोचई, पकरी, खेडा, ब्रम्हरकाष, निराबोदा, कच्छर, अकोती, कच्छर, करील, कौटी, खटना, चेंच, जीलो, भजरी, लमेर, कुंदरू, पुडपुडी, भुरसी, ककती करील, करैया, निखोद, बुझन, दुडसी, मशरूम(पिहरी) में पुडपुडी, पुटु, सरईपीडा, भोडोपीडी, राजपीडी, टिटहीपीडा, पुत्तीपीडी, चरकोपीडी, भात, चिहरी, बमोर, तूमा, बेला, लाल, बांस बांसघांटाखूंट व बिरसोर व पिहरी पाई जाती थी, लेकिन जंगल के कम होने के साथ ही भोजन के ये मुख्य स्रोत कोल की थाली से गायब हो गए और उनमें पोषण की समस्या दिखाई देने लगी।



पाताल में रचे-बसे भारिया

साकेत दुबे

मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा जिले के तामिया विकासखंड का पातालकोट इलाके के रहवासी हैं 'पिछड़ी आदिम जनजाति' 'भारिया'। जनगणना-2011 के मुताबिक यहाँ के कुल बारह आबाद गांवों की कुल जनसंख्या करीब तीन हजार आठ सौ बीस है। शिक्षा 59 प्रतिशत है। मसला-पोषण की सुरक्षा और कुपोषण का है। आधुनिक विकास के चलते इनकी पोषण की सुरक्षा गड़बड़ा चुकी है। फलतः इनके हिस्से कुपोषण आ रहा है। यहाँ भी सर्वाधिक 36 बालिकाएं अतिकुपोषित हैं। कुल पचास से छप्पन प्रतिशत बच्चों में कुपोषण व्याप्त है। यह सवाल खासतौर पर सामने आता है कि भारिया समुदाय की समृद्ध खाद्य परंपरा आखिर बदली कैसे? जाने माने चिंतक कपिल तिवारी कहते हैं, 'यह बदलाव पिछली डेढ़ दो सदियों में अंग्रेजों के आगमन के बाद आया है। अंग्रेजों के राजस्व और वन कानूनों ने सब कुछ बदलने की शुरुआत की। होशंगाबाद जिले के पचमढ़ी में जब अंग्रेजों ने वन विभाग का पहला कार्यालय स्थापित किया इसके बाद ही बदलाव आरंभ हुआ।'

शोधकर्ता श्रीमती सरला देवी ने कहा, 'भारिया समुदाय का सबसे ज्यादा नुकसान लिखे-पढ़ों ने किया। उनके खानपान में परिवर्तन उन्हें गंवार मानकर शिक्षित करने के प्रयासों के दौरान आरंभ हुआ।'

खानपान में हुए परिवर्तन की पुष्टि महिला बाल विकास में एक दशक से ज्यादा समय तक पर्यवेक्षक रहीं तुलसा श्रीवास्तव भी करती हैं। वे कहती हैं, 'जब मैं साठ के दशक में तामिया आई थी तब मैंने यहां की महिलाओं को देखा है। वे हष्ट-पुष्ट और ताकतवर होती थीं। क्योंकि वे कंदमूल और अनेक किस्म की भाजियां और जड़ी-बूटियां खाती थीं। इसकी वजह से उनमें रक्तअल्पता (एनीमिया) नहीं थी। यही वजह है कि इनके बच्चे भी स्वस्थ होते थे। वे कुपोषित नहीं थे।' श्रीमती तुलसा के पति श्रीराम स्वरूप श्रीवास्तव जो वनविभाग से सेवानिवृत्त हुए हैं, बताते हैं, 'भारिया किसान अब उतनी कुटकी पैदा भी नहीं करते हैं। उनकी खेती में बदलाव आया है। सत्तर के दशक में उनकी परंपरागत ढाहिया खेती प्रतिबंधित कर दी गई। हरित क्रांति ने उन्हें भी प्रभावित किया। वे अब नकद फसल लेते हैं। खाद और खेती की नई शैली ने भी उनकी पारंपरिक खेती को नुकसान ही पहुँचाया है। मौसम के कारण भी फसलें बिगड़ रहीं

हैं। उनका जंगल भी पिछले पाँच दशकों में कम हुआ है। इसके अलावा चारे के अभाव में पशुधन भी कम हुआ है।'

पीले और काले सोने और शिक्षा के प्रयासों ने बदला खानपान!

मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा जिले के तथाकथित उजले विकास की पहचान है पीला और काला सोना। पीला सोना यानी सोयाबीन। यह आज़ादी के बाद सत्तर के दशक में आया। सोयाबीन दोनों तरह का होता है। पीला भी और काला भी। इसके अलावा गेहूँ को भी पीला सोना ही कहा जाता है, यह बीसवीं सदी के आरंभिक दौर में शामिल हुआ। इस जिले में काला सोना कोयले को माना जाता है और पीला सोना सोयाबीन को।

कृषि परंपरा को आधुनिक समाज ने पिछड़ा माना

पातालकोट के भारिया समुदाय की सदियों पुरानी ढाहिया (झूम खेती) खेती परंपरा को संपर्क में नए आए लोगों ने आदिम माना। यह भी माना कि इस खेती से जंगल नष्ट हो रहा है। खेती के उनके तौर तरीकों को पिछड़ा करार दिया क्योंकि इस खेती के कारण वे एक स्थान पर रह नहीं पाते हैं। वे पातालकोट की गहराइयों में उतरते चले गए हैं। वर्तमान सन्दर्भ में उनकी खेती पिछड़ी है क्योंकि उसके पास विकसित हो रही आधुनिक तकनीक नहीं थी। नई खाद सामग्री नहीं थी। इन नए लोगों ने यह नहीं जाना कि उसने कभी इसकी जरूरत भी महसूस की या नहीं। अथवा उसका अपना तौर-तरीका काफी समृद्ध व वैज्ञानिक था।

खेती के पुराने तौर-तरीकों को पिछड़ा मानने की धारणा को वेरियर एल्विन और हवालिस जैसे शोध अध्ययनकर्ताओं ने और पुष्ट किया। उन्होंने उसके पुराने तरीकों से खेती करने पर भी सवाल उठाए। टाटा इंस्टीट्यूट की रिसर्च ऑफिसर रहीं श्रीमती सरला देवी राय ने कहा है, 'उसके अपने इस तरीके से जमकर कोदों-कुटकी आदि पैदा होता था। जो अब नहीं होता।'

ढाहिया खेती पर प्रतिबंध

देश में पहली बार सन् 1956 में बेवर खेती प्रतिबंधित की गई थी। इंडियन काउंसिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च के अनुसार करीब 40 हजार एकड़ भूमि पर प्रतिबंध लगाया गया था। साठ के दशक में पातालकोट में भी भारियाओं की ढाहिया खेती पर प्रतिबंध लगा दिया गया। वहीं दूसरी तरफ केन्द्र और राज्य सरकार के कृषि मंत्रालय अब पुरानी पारंपरिक खेती और जैविक पद्धतियों को प्रोत्साहन दे रही हैं।

सामाजिक-आर्थिक ताने-बाने के केन्द्र में खाद्य सुरक्षा और पोषण

इस समुदाय का प्रकृति पर आधारित अपना सामाजिक-आर्थिक ताना-बाना है। इसी के इर्द-गिर्द गुथी सामाजिकता और-संस्कृति मूल जरूरतें पूरी करता रहा है। उसकी खाद्य सुरक्षा और पोषण हमेशा ही केन्द्र में रहा है। जितनी आवश्यकता उतना ही प्राप्त करो का सिद्धांत रहा है। उसमें पूंजी के संग्रहण का मामला भी नहीं था। उनका अपना सीधापन और सादगी है। प्रकृति के साथ तालमेल और श्रम उनका मूलाधार रहा। उसका पूरा आर्थिक चक्र व्यक्ति और परिवार से आरंभ होकर सामूहिक स्वरूप ग्रहण करता है। एक इकाई के रूप में। उसकी अर्थव्यवस्था आपसी विनिमय पर आधारित थी। मुद्रा के चलन के बावजूद यह सिलसिला चलता रहा है। आज भी कुछ लोग जारी रखे हुए हैं। इन्हीं सबके बीच वह सदियों से होते आ रहे बदलावों के बावजूद अपने आप को बचाए रखे है। नैसर्गिक पर्वतीय इलाके में उसके सारे आर्थिक ताने-बाने के प्रमुख घटकों में प्राकृतिक संसाधन (वन संपदा संग्रहण), कृषि, श्रम कार्य, पशु पालन और शिकार शामिल हैं। इन्हीं घटकों के चारों ओर उसने अपने आर्थिक चक्र को बुना।

जीवन चक्र

भारिया समुदाय का सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक चक्र इस प्रकार है-

- **चैत्र (मार्च-अप्रैल)** - महुआ बीनना, मछली मारना, रबी फसल यदि बोई है तो उसकी कटाई, भोजन के लिए जलाऊ लकड़ी एकत्र करना, धार्मिक पर्व, माता (देवी) की पूजन, वैशाख (अप्रैल-मई)-हरा, अचार, तेंदूपत्ता का संग्रह, विवाह, हरदुल और भीमसेन की पूजा, खरीफ फसल की तैयारी, जंगल में काम करना और जलाऊ लकड़ी एकत्र करना।
- **ज्येष्ठ (मई-जून)** - खेत-बाड़ी की तैयारी, बारिश और बतर के बाद बोवनी, आम के साथ हरा, अचार आदि का संग्रह, बारिश के पहले जंगल से खाने लायक जड़ी एकत्र करना, घरों की मरम्मत करना, मछली और जरूरत के मुताबिक वन्यजीव और पशु-पक्षियों का शिकार करना।
- **आषाढ़ (जुलाई-अगस्त)** - दुबई की भाजी, विभिन्न खाने लायक वन उत्पाद, औषधि और जड़ें, पत्ते आदि एकत्र करना।
- **सावन (जुलाई-अगस्त)** - दुबई की भाजी, पत्तियां संग्रह, शिकार, आम-महुआ की गोही और कंदों की रोटी बनाना, यह काम वह आषाढ़ में भी करता

है, इसके लिए वह अखाड़ी का त्योहार मनाता है, खेत-बाड़ी में पहली बार खरपतवार यानी अनावश्यक पौधों आदि को निकालना।

- **भादो (अगस्त-सितंबर)** - दूसरी बार खरपतवार निकालना, खरीफ फसलों जैसे कोदो-कुटकी (जो लगभग उत्पादन की स्थिति में होती हैं) की देखभाल, दुबई भाजी का संग्रह, अन्य खाद्य सामग्री एकत्र करना, शिकार और महुआ के फल को बीनने की शुरुआत।
- **क्वारं (सितंबर-अक्टूबर)** - फसलों की कटाई, महुआ फल का बीनना, फसलों का रखरखाव, रस्सी बनाना, मजदूरी करना आदि।
- **कार्तिक (अक्टूबर-नवंबर)** - पकी फसलों की कटाई, रखरखाव, मजदूरी, सामाजिक-धार्मिक पर्व मनाना, खाने लायक जड़ें-कंद आदि। एकत्र करना, शिकार आदि।
- **अगहन (नवंबर-दिसंबर)** - विलंब से बोई गई फसल की कटाई खाने लायक सामग्री जंगल से लाना, फसलों की साफ-सफाई, मजदूरी।
- **पूस (दिसंबर-जनवरी)** - मजदूरी, रस्सी बुनना, देवबहारी घास एकत्र करना।
- **माघ** - देवबहारी घास का संग्रह, झाड़ू बनाना, शिकार और मछली मारना और विवाह आदि कार्यक्रम।
- **फाल्गुन** - महुआ के फूल बीनना, शिकार, मछली मारना और होली आदि पर्व मनाना।

जो लोग रबी की फसलों का भी उत्पादन लेने लगे थे वे खेतों की तैयारी और बोवनी आदि कार्तिक के समापन तक कर लेते थे। मार्च में रबी फसलों की कटाई आदि। इस चक्र में उसका पशुपालन भी शामिल रहा है। खासतौर पर बकरी, मुर्गी, गाय-बैल-भैंस आदि। इसके अलावा शहद संग्रह के मामले में तो यह समुदाय विशेषज्ञ रहा है।

खेती के लिए पातालकोट के गर्भ में उतरने में कोई कठिनाई नहीं

भारिया समाज को पातालकोट की भौगोलिक स्थितियां अपनी ढाहिया खेती के लिए परेशानी का कारण नहीं थी। अस्सी के दशक में पातालकोट के ग्राम रातेड़ के हल्कू पटेल ने अपने और अपनी पांच पीढ़ियों के कृषि अनुभव (जो कि उसके आज (बुजुर्ग) ने सुनाए थे) सुनाते हुए बताया था, 'पातालकोट का विशाल जंगल, उसकी भूमि और बिल्कुल निरापद स्थान में झाड़ू आदि काटकर खेती करने में भारियाओं को

कोई संकट या कठिनाई नहीं थी। ढाहिया खेती के कारण वे इसकी अतल गहराइयों में भी आसानी से उतरते चले गए। इसमें वे चढ़ने उतरने में अभ्यस्त रहे हैं और हैं।'

पारंपरिक खेती - भारिया समुदाय अपनी खेती परंपरा को ढाहिया खेती कहता है। इसे बेवर/झूम और स्थानांतरित खेती भी कहा जाता है। इस खेती में वह अपनी जरूरत के मुताबिक जंगल के एक उपजाऊ टुकड़े को साफ कर लकड़ियों को जला देता था। इसकी राख वह खाली हुई जमीन पर बिखेर देता। जमीन की पूरी तैयारी करता। इसके लिए अपने स्वयं के बनाए औजार कुल्हाड़ी, हसिया, खंता (जमीन खोदने के लिए लकड़ी में लगा लौहे का टुकड़ा) का प्रयोग करता।

मौसम की परख - वह अपनी भूमि के चयन के पूर्व आसपास के वातावरण और मौसम को जांचता परखता है। किस फसल में पानी की कम जरूरत होगी। वन क्षेत्र के कारण भूमि में नमी रहती है तो पानी की कम जरूरत होती है। इसमें वह जल्द पकने वाली फसलें कोदों, कुटकी, समां, कंगना आदि बोते हैं। देर से पकने और पानी व खाद की ज्यादा जरूरत पूर्ति वाली फसलों में गेहूँ, बटरा, उड़द, धान, बटरा आदि भी लगाते हैं।

खाद्य सुरक्षा तंत्र, पोषण आहार और औषधीय ज्ञान - भारियाओं का खाद्यसुरक्षा तंत्र, खानपान का तौर-तरीका, उसके सामाजिक ताने-बाने और संस्कृति में भोजन की अपनी महत्ता रही है। उनकी यह मजबूत व्यवस्था उनके भुखमरी के शिकार होने और खाने के लिए दर-ब-दर भटकने की धारणाओं को तोड़ती है। उनके खान-पान के तौर-तरीकों को गलत नजरिये से देखा और परखा गया है। जैसे-वे भुखमरी के कारण आम की गुठलियों की रोटी खाने को मजबूर हैं या भूख के कारण किसी का बैल चुराकर मारकर खा गए अथवा पातालकोट में अन्न का दाना नहीं मिलता है।

खाद्य सुरक्षा के केंद्र में स्वास्थ्य और पोषण - उनकी खाद्यसुरक्षा तंत्र में पोषण और स्वास्थ्य केन्द्र में है। स्वास्थ्य के प्रति वे सचेत रहते हैं। बच्चों, वृद्धों, महिलाओं और किशोरियों को क्या देना है? रजस्वला स्त्री को क्या देना है? गर्भकाल में क्या दिया जाना है? प्रसव के समय क्या दिया जाना है और क्या नहीं। बच्चे का खाना किस तरह से आरंभ करना है? दूध कैसे पिलाना है? कौन सा खाना पौष्टिक है और कौन सा हल्का इसे कब उपयोग करना है? नुकसानदायक खानपान क्या है? बीमारी की हालत में क्या दिया जाना चाहिए और क्या नहीं, आदि। इसका अर्थ यह है कि वे अपने शरीर को बहुत बेहतर ढंग से समझते हैं।

बच्चों, पुरुषों और वृद्धों को दिए जाने वाले खाने में वे कोदो, कुटकी, भदेली, भात, ज्वारी, गेहूँ, बल्हर, बरवटी, तिवड़ा, बटरा, मूंग, अरहर और उड़द को शामिल करते हैं। रोगी और कमजोर व्यक्ति को दिए जाने वाले खाद्य पदार्थों में भदेली, ज्वार और गेहूँ का दलिया, मूंग की दाल, बकरी और गाय का दूध देते हैं।

स्वस्थ रहने के लिए कंदों का प्रयोग – भारिया स्वस्थ रहने के लिए ही कंदों, फल, पत्तों, छाल, गुठलियों और जड़ों का प्रयोग करते हैं। कंदों में तो क्यूकंद से लेकर सूरनकांदा तक सैकड़ों कंद हैं जिन्हें वे खाते हैं। औषधियों के लिए वे कंदों और जड़ों को तत्काल उखाड़कर ताजा उपयोग में लाते हैं। जैसे अतिसार, सूजन, दूधवर्धन एवं पित्त के लिए शतावर के पत्तों और जड़ें, पेट रोग बलवर्धन और वात में वे केयोकंद, पांडूरोग के लिए छोटी हरड़, श्वास रोग के लिए दमजड़ी तथा हड्डी टूटने पर महुआ की ताजी छाल का उपयोग करते हैं। जोड़ों के दर्द की अकसीर दवा भिलवा है। मलेरिया बुखार में चिराता का काढ़ा, लागन कांदा, बड़ेना कंद, कडूपात कंदा, दारू हल्द से काढ़ा बनाया जाता है। इसी तरह अन्य बुखारों के लिए उनके पास अलग-अलग नुस्खे हैं।

ऐसा है मौसम आधारित खाद्य सुरक्षा तंत्र – इस समुदाय का पूरा खाद्यसुरक्षा तंत्र मौसमों के आधार पर विकसित हुआ है। स्थानीय पर्यावरणीय और भौगोलिक स्थितियों का इसमें महत्वपूर्ण योगदान है। कौन सा खाना गर्मी करता है, इसे कब खाया जाना चाहिए? कौन सा खाना ठंडा होता, उसे कब लेना है? इसकी पूरी जानकारी उन्हें है। वैसे भारियाओं का मुख्य भोजन पेज है। इसे वह बारहों महीने सभी मौसम में उपयोग में लाते हैं। मक्का, जुवार, कुटकी और पिसी के पेज का ज्यादा उपयोग करते हैं। यह उनके घरों में हमेशा उपलब्ध होता है। पेज काफी ऊर्जा देने वाला और पौष्टिक होता है। वे इसे अपने जानवरों को भी पिलाते हैं। शोधकर्ता श्रीमती सरला देवी राय ने बताया कि पेज तो मटके में भरकर चौबीसों घंटे चूल्हे पर चढ़ाए रहते हैं। कहीं से भी वे लौटे और उन्होंने एक थाली भरकर पेज पिया और फिर चल दिए अपने काम पर।

भारिया महुआ/कंद और आम की बीजी/गोही की रोटी बरसात में खाते हैं। गर्मी के दिनों में वे आम एकत्र करके और सुखा के रख लेते हैं। इसकी रोटी अषाढ़ के महीने में अखाड़ी के पर्व पर दोबई की भाजी के साथ खाई जाती है। अनुसूचित जनजाति अनुसंधान परिषद भोपाल ने अपने शोध अध्ययन में बताया है कि इससे बारिश की बीमारियों से अपना बचाव करते हैं। इसके अतिरिक्त कोदो, कुटकी, धान, सावां,

मक्का, जुवार और पिसी के आटे की रोटी किसी खास मौके, तिथियों, पर्व पर ही खाई जाती हैं। भात बेसन इनकी खास पसंद है। इसके अलावा वे विभिन्न तरह की भाजियां खाते हैं। आषाढ़ से भादों तक धबई, भाडका, मौसिया, छितावर, राजगिरा की भाजियों का सेवन करते हैं। कुंवार से माघ तक गिलकी, तुरई, लौकी, कद्दू खाते हैं। आलू स्वयं उगाकर खाते हैं। फाल्गुन में सेमी बरोटी, चैत्र में क्योटी की भाजी, वैशाख, ज्येष्ठ में चना, बरबटी, मैनहर, कातुल, टिंडे आदि सब्जियों का उपयोग करते हैं। जगनी का तेल वह बघार के लिए करते हैं। मिर्ची, प्याज, जीरा, धनिया, लहसुन का इस्तेमाल करते हैं। वैशाख से श्रावण तक पके आम खाए जाते हैं। इसी तरह वे कंदमूल का भी उपयोग करते हैं। नंदमाती कंदमूल उबालकर खाते हैं। यह स्वाद में मिठास लिए हुए होता है। इसका उपयोग अगहन और पूस में किया जाता है। अगहन में सेतकंद को उबालकर खाया जाता है। इसका सफेद अंग उपयोगी होता है, लाल रंग को छोड़ दिया जाता है। पान के पत्तों की बेल की तरह कडुकंद होता है। यह सीताफल जैसा होता है। इसे भादों में खाया जाता है। इसे गोलाकार काटकर पानी में उबालकर खाया जाता है। जंगली कंदों में पेटदर्द के उपचार के लिए बरहाकंद का दवा के तौर प्रयोग किया जाता है। यह लौकी जैसा होता है। बेचांदी कंद को भी गोलाकार काटकर तेल में तलकर खाते हैं। गेंजीकंद की खीर बनाई जाती है। यह अदरक जैसा होता है। गोहलारी, भैंरों, ठेंगी, तीखुरकंद, शकरकंद, मछारियाकंद, खटवी महुल, सुआरूख, चिकनाकंद, चोल, वन सिंघाड़ा और वन अदरक आदि ऐसे कंद हैं जिनका मौसम के मुताबिक प्रयोग किया जाता है।

गर्म खाद्य पदार्थों में भदेली का भात, कोदो/कुदई का पेज, कुटकी, ज्वार, गेहूँ (पिसी), अरहर की दाल, कुल्थी, महुआ और भाजियों में दोबई/धबई, भाडका, मौसिया, छितावर, राजगिरा, बथुआ, राई, चकोड़ा, पोई और नोनिया। आषाढ़ से भादों तक इनका उपयोग जमकर करते हैं। चैत में क्योटी की भाजी का उपयोग करते हैं। तिरौली की भाजी भी खाते हैं। कई पौधों के फूल उबालकर नमक डालकर खाते हैं। गर्म खाद्यों में कंदमूल शामिल हैं। ये हैं क्यूकंद, सूरनकांदा, अदरक, हल्दी, लहसुन, बड़ाकंद, लिपिरिस कांदा। अन्य प्रकार के कंदों में नंदमाती कंद को उबालकर खाया जाता है। ठंडे खाद्य पदार्थों में चावल का भात, मक्का का पेज (दलिया) आदि और हल्के खाद्य पदार्थों में भदेली की कनकी का पेज, कोदों-कुटकी का भात व मूंग की दाल शामिल हैं। पौष्टिक पदार्थों में चिरौंजी, गोंद, शहद, महुआ, भिलवां, तेंदू आदि। चावल के भात की गिनती नुकसानदायक पदार्थ में है। इसी श्रेणी में उत्तेजक पदार्थ भी

हैं जैसे-शराब, तम्बाकू, गांजा, सल्फी आदि। घर में उगाए जाने वाले फलों में नीबू, अमरूद, केला, आम, पपीता, जामुन, बेर, सीताफल और अट्टरा आदि प्रमुख हैं।

यह समाज वनोपजों को अपने खाने में शामिल करता रहा। इनमें विशेष तौर पर महुआ, गूलर, तेंदू, आंवला, खित्री, कैथा (कबीट), बेल, चुन्ना, रामफल, मकोई और ओखनी उल्लेखनीय हैं।

दालों में वह अरहर के अलावा बल्हर, बरबटी, कुल्थी, तिवड़ा, लखौड़ी, चना, उड़द आदि का उपयोग करते हैं। मसालों में मिर्च, नमक, हल्दी, धनिया, अमाड़ी, आमगोही, अमचूर, लहसुन तथा तेल और मसालों में जगनी, गुल्ली, अलसी, तिल्ली और सरसों शामिल हैं।

मांसाहार में, पक्षियों में तीतर, लावा, बटेर, फड़की, जंगली मुर्गी, मोर, कबूतर, हरियल, गलगल शामिल हैं। इन्हीं पक्षियों के अंडे। पशुओं में भेड़, बकरा, चीतल, कोटरी, खरगोश, सांभर, बारहसिंगा, हिरन, घुट्टी, पड़ा, लोमड़ी, सांप और नील गाय। अपने गौत्र के अनुसार निषेध होने पर भारिया उस पशु-पक्षी का शिकार नहीं करते हैं। जैसे वे बाघोटिया बाघ को नहीं मारते, आदि।

मछलियों में घोंटा, बेदाल, बामी, भांगुर, जिमटा, लुदर, कुसमा, रेहू, झींगा, कटिया, डोगरा। झींगा, बाम और जिमटा स्वादिष्ट होती हैं, इसलिए महंगी मिलती हैं। कुसमा, घोंट, लद्दूर आदि स्वादिष्ट नहीं होती हैं। इसलिए ये सस्ती मिल जाती हैं। पौष्टिक मछलियों में सौर, बामी, कतला, सिंधारा, जिमटा, लपका, भांगुर, बुट्टे, कामला, लेबिया, मृगला, सेहिता और पड़िन। कम पौष्टिक में लद्दूर, घोंटा और कुसमा शामिल हैं। महुआ के बिना तो उनका जीवन ही अधूरा है। वह उनकी संस्कृति है। वे उनके फूल व फल बीनते हैं। उसकी गुली को बेचकर लाभ कमाते हैं तो उसके निकले तेल का उपयोग खाने में करते हैं। सब्जियों में डालकर खाते हैं। इसकी रोटी भी बनाते हैं। और भी अन्य तरीकों से वे महुआ का उपयोग करते हैं।

पातालकोट के भारिया समाज में उसके पर्व, धार्मिक विश्वास सभी प्रकृति से संबद्ध हैं। इनमें उसका खानपान और भोजन का पारस्परिक लेन देन अपना महत्व रखता है। सामाजिक और सांस्कृतिक, धार्मिक और पारंपरिक गतिविधियों में भोजन की अपनी पद्धति है। यह पद्धति सामूहिक भोज है तो व्यक्तिगत और पारिवारिक स्तर पर भी विद्यमान है।





लक्ष्मीनारायण अवधिया

लक्ष्मीनारायण मूलतः डिंडौरी जिले के निवासी हैं। पिछले एक दशक से अलग-अलग अखबारों के साथ जुड़कर आपने जमीनी पत्रकारिता को आगे बढ़ाया है। वर्ष 2013 में इन्हें विकास संवाद मीडिया फैलोशिप के तहत बैगा समुदाय की खाद्य एवं पोषण सुरक्षा कार्य के लिए चुना गया।

रूबी सरकार

रूबी लंबे समय से सामाजिक सरोकार के मुद्दों पर लेखन कर रही हैं। वह भोपाल के देशबंधु अखबार के साथ जुड़कर कार्य कर रही हैं। उन्हें साल 2013 में कोरकू समुदाय की पोषण एवं खाद्य सुरक्षा पर कार्य करने के लिए चुना गया।

भूमिका कलम

भूमिका स्वास्थ्य एवं खेती संबंधित मामलों में खासी दखल रखती हैं। लंबे समय तक वह दैनिक भास्कर, पत्रिका जैसे अखबारों के साथ जुड़कर सामाजिक सरोकारों की पत्रकारिता कर रही हैं। उन्हें वर्ष 2012 में भील समाज की पोषण एवं खाद्य सुरक्षा पर कार्य करने के लिए चुना गया।

श्वेता शुक्ला

महाकौशल अंचल की पत्रकार श्वेता सामाजिक सरोकारों की पत्रकारिता के लिए जानी जाती हैं। वह कई अखबारों के साथ जुड़कर लेखन कार्य करती रही हैं। विकास संवाद मीडिया फैलोशिप के तहत उन्होंने कोल समुदाय की पोषण एवं खाद्य सुरक्षा का अध्ययन वर्ष 2014 में किया।

साकेत दुबे

होशंगाबाद जिले के पत्रकार साकेत स्वतंत्र रूप से लेखन से जुड़े हुए हैं। विकास संवाद मीडिया फैलोशिप के तहत उन्होंने पातालकोट के भारिया समुदाय की पोषण एवं खाद्य सुरक्षा पर वर्ष 2014 में कार्य किया।



भुखमरी जन्म लेती है
 जब सियासत का
 बन्दूक से मिलन हो जाता है,
 भूख उठ खड़ी होती है
 जब छीन ली जाती है
 मिट्टी से नमी,
 जब निष्प्राण हो जाती है हवा
 इतनी कि बह नहीं पाती,
 जब नदियाँ बन जाती हैं कैदी
 रक्तपिपासु पूँजी की,
 जब उखाड़ दी जाती हैं
 पीपल, बरगद, घास की जड़ें,
 जब चमकते शहर में
 बिछने लगती हैं गौरैया की लाशें,
 जब मूल्यवान हो जाती है धातुएं
 अनाज से कई गुना ज्यादा,
 जब पैदावन हो जाती है
 गुलाम मशीनों की,
 जब निचोड़ लिया जाता है
 भविष्य को वर्तमान में से,

जब हार जाता है संगीत का राग
 माल असबाब के अनुराग से,
 जब कैद कर लेता है
 बीज को बाजार,
 जब मुद्रा बन जाती है
 मूल्य तय करने का आधार,
 जब लुब्ध आदम करने लगता है
 शासन आदमियत पर,
 भुखमरी तब पूरी पैदा हो जाती है;



भूख नहीं मरती है
 बारूद के विस्फोट से,
 भूख विकराल होती जाती
 जब समाज सूक्ष्म होता जाता है,
 समग्रता में है जीवन
 जंगल, मिट्टी, पेड़, पानी
 हवा, चिड़िया और सपने आसमानी,
 जब सत्ता लुटेरों के नाच में रम जाती है
 भुखमरी तब परंपरा बन जाती है;

ISBN 9789381408322



9 789381 408322